ओ३म्
मृत्युञ्जय सर्वस्व
उर्वारुकमिव
मुक्षीय
व्याख्याकार
दीक्षानन्द सरस्वती

ओ३म्

सर्वस्व ग्रन्थमाला का चतुर्थ कुसुम

मृत्युञ्जय-सर्वस्व

(फल-सर्वस्व)

दीक्षानन्द सरस्वती

प्रकाशक : **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
4408, नई सड़क, दिल्ली-110 006
दूरभाष : 23977216, 65360255
e-mail : ajayarya@vsnl.com
Website : www.vedicbooks.com

Celebrating 84 years of Publishing (1925-2009)

संस्करण : 2009

मूल्य : 12.00 रुपये

मुद्रक : नवशक्ति प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

MRITYUNJAY SARVASVA
by VidyaMartand Swami Dikshanand Saraswati

आमुख

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि इस वर्ष 'सर्वस्व ग्रन्थमाला' का चतुर्थ कुसुम विकसित हुआ है। पाठक, इसे भी माला में पिरो लेना। जिस प्रकार माला के पहले तीन कुसुम अपनी सुरभि से दिग्दिगन्त को सुवासित कर रहे हैं, उसी प्रकार यह चतुर्थ कुसुम भी पाठक के चित्त-अन्तराल को सुवासित करेगा, मुझे पूर्ण विश्वास है।

नामकरण-

चतुर्थ कुसुम का नाम **'मृत्युञ्जय सर्वस्व'** रखा गया है। जिस मन्त्र का यह व्याख्यान है उसे 'महामृत्युञ्जय' कहते हैं, अतः इसके अनुरूप ही नामकरण किया गया है। सर्वस्व शब्द के जोड़ने का एकमात्र यह प्रयोजन है कि जिसके साथ सर्वस्व शब्द जुड़े, उससे सम्बन्धित पूरी जानकारी दे दी जाए, उसकी पूर्ण विवेचना हो, कुछ छूट न जाए। इस बात का निर्णय पुस्तक को आद्योपान्त पढ़कर ही किया जा सकता है।

स-फल हूजिए-

'स्वाध्याय सर्वस्व' और **'उपनयन सर्वस्व'** के अध्ययन के उपरान्त पाठक को **'उपहार सर्वस्व'** दिया था। पाठक भूला न होगा, परन्तु उसे तो फल-प्राप्ति की अभिलाषा बेचैन किये हुए होगी। यही विचार कर हम भी महामृत्युञ्जय मन्त्र की व्याख्या में प्रवृत्त हुए। इस मन्त्र में उर्वारुक फल को उपमा बनाया गया है। इस बार हम पाठक को उपहार में **फल-सर्वस्व** (खरबूज़ा) दे सके हैं। हमें विश्वास है कि पाठक इस उपहार को स्वीकार कर अपने को स-फल समझेगा।

पाठक ! तेरी झोली में (फल-सर्वस्व) खरबूज़ा डाल दिया है। इसे अपनी प्रज्ञा-कसौटी पर कसना। इसकी सुगन्ध, इसका माधुर्य, इसका रस, इसका रंग, इसका रूप, सबकी जांच करना। खरा उतरने पर इसे कसौटी बना लेना और अपने जीवन-फल को परखना। उसकी-सी गन्ध, उसका-सा माधुर्य, उसका-सा रस, उसका-सा रूप-रंग अपना लेना।

इसका अनुष्ठान = अनु + स्थान करना। देखना, झोली में पड़े फल को अकेले न खाना, सबको खिलाना। एक-एक फांक भी देगा, तो भी दस में बंट जायेगा। बांटने में कंजूसी न करना ! यह तो यज्ञ-हवि है। यज्ञ-हवि पर नहीं, यज्ञशेष पर तेरा अधिकार है। खिलाकर बच रहे तो उसे ही खाना।

खरबूज़ेवाले पंडित जी-

१९५५ के श्रावणी उपाकर्म पर्व से मैंने वेद-प्रचार का उपक्रम किया। १७ वर्षीय वेद-प्रचार-सत्र में कितनी ही बार इस मन्त्र की व्याख्या की होगी। हैदराबाद की जनता ने इस व्याख्या को अत्यधिक पसन्द किया। कई स्थानों पर तो इस व्याख्या को फिर-फिर सुनाने का अग्रह किया गया। यहां तक हुआ कि लोग मुझे खरबूज़ेवाले पण्डित कहकर बुलाने लगे। खरबूज़े फल की सुगन्ध की भांति इस व्याख्या की गन्ध भी यत्र-तत्र-सर्वत्र व्याप गई। गन्ध पाकर कुछेक महानुभावों ने इसे लेखबद्ध कर मुद्रित कराने का आग्रह किया।

आचार्य कृष्ण

चतुर्थ संस्करण-

मृत्युञ्जय सर्वस्व का प्रथम संस्करण कई वर्षों से समाप्त था। जनता की ओर से उसकी मांग बराबर बनी हुई थी। मुझे अहर्निश प्रचार-कार्य में व्यस्त रहना पड़ा, न केवल देश में ही अपितु विदेश में भी लगभग दो वर्ष तक रहना पड़ा। मैं चाहता था कि पुस्तक में आवश्यक परिवर्तन-परिवर्धन करके पुनः प्रकाशित करूं। यह वर्ष महर्षि-निर्वाण-शताब्दी का है। इससे बढ़कर शुभ अवसर कौन-सा होगा ! अतः **मृत्युञ्जय सर्वस्व** का चतुर्थ संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। जनता इसका पूर्ववत् स्वागत करेगी।

दीक्षानन्द सरस्वती

शिवरात्री २०५१

हम नहीं वे क्या कहते हैं

श्री आचार्य कृष्ण (स्वामी दीक्षानन्द जी) द्वारा रचित **'मृत्युञ्जय सर्वस्व'** *को मैंने रुचिपूर्वक आद्योपान्त पढ़ा।* **मृत्युञ्जय मन्त्र के रहस्य को अद्भुत रूप से, आर्ष-शैली से, इसमें प्रकट किया गया है।**

यजुर्वेद में इस मृत्युञ्जय मन्त्र का जो पाठ पूर्ण रूप से उपलब्ध है इसके दो विभाग हैं। उत्तरार्ध भाग ऋग्वेद में नहीं है। उत्तरार्ध भाग को संभवतः मृत्युञ्जय से असम्बद्ध समझ कर ही विनियोगकर्त्ताओं ने पृथक् कर दिया और पूर्वार्ध भाग को ही उपयुक्त समझा। परन्तु **श्री आचार्य कृष्ण (दीक्षानन्द जी) ही सर्वप्रथम ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने उत्तरार्ध मन्त्रभाग को पूर्वार्ध मन्त्र के समझने में उपयोगी प्रतिपादित करके दोनों भागों की परस्पर संगति प्रकट की है।**

त्र्यम्बक पद के अर्थ को इसमें जिस प्रकार से प्रकट किया गया है वह **आचार्य कृष्ण (दीक्षानन्द जी) की आर्ष प्रतिभा का ही परिणाम है।**

मृत्यु के बन्धन की उपयोगिता और उससे मुक्त होने का परम लाभ कैसे होता है, जीव को प्रकृति के बन्धनों से किस प्रकार, किस सीमा व समय तक बद्ध रहने की आवश्यकता है और मोक्ष फल की प्राप्ति कब होती है, इत्यादि बन्ध और मोक्ष के रहस्यों का इस छोटी-सी पुस्तक में **'मृत्युञ्जय मन्त्र'** *के आधार पर अत्यन्त सरल एवं सुन्दर रूप से प्रतिपादन लेखक ने सफलतापूर्वक किया है।*

अथर्ववेद में प्राप्त इस मन्त्र के रूपान्तर पाठ की इस मन्त्र के साथ संगति **त्र्यम्बक** *के* **रुद्र** *एवं* **शिव** *रूपों के गूढ़ रहस्य का युक्तियुक्त, हृदयग्राही विवेचन इसमें लेखक ने किया है,* **जो अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ। सम्पूर्ण पुस्तक अत्यन्त मौलिक एवं आर्ष चिन्तन से ओतप्रोत है।**

लेखक **मृत्युञ्जय सर्वस्व** को लिखने में निःसन्देह पूर्ण सफल हुए हैं एवं बधाई के पात्र हैं।

—वीरसेन वेदश्रमी

दिल्ली. १३/५/१९७२ ई. वेद-सदन, महारानी गंज, इन्दौर-१

श्रीयुत मान्य आचार्य जी !

सादर सप्रेम नमस्ते

मैंने आपके **'मृत्युञ्जय सर्वस्व'** नामक ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ा जिसमें आपने यजुर्वेद ३-६० के **त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥** इस मंत्र की विस्तृत व्याख्या की है। यह व्याख्या **आपके मौलिक चिन्तन, गम्भीर मनन और उत्तम व्याख्या का स्पष्ट परिचय देती है** मन्त्र में **'उर्वारुकमिव'** (खरबूजे) की तरह यह जो उपमा दी गई है इसका स्पष्टीकरण खरबूजे की दस पहचान व विशेषताएँ देकर जो आपने किया है वह अत्यन्त अद्भुत और आपके कृषि विज्ञान का भी परिचायक है। **इतनी विस्तृत व्याख्या मेरे देखने में अब तक नहीं आयी**। रुद्र को रुलाने वाला यह अर्थ मानकर उग्र रूप में ही प्रायः समझा जाता है पर आपने उसके सौम्य रूप का भी बड़ी उत्तमता से दिग्दर्शन कराया है और स्नेहवश भी अश्रु निकलने की बात लिखी है जो यथार्थ है। त्र्यम्बक की भी आपने अबि-शब्दे के आधार पर उत्तम व्याख्या की है।

मृत्युहनन या मृत्युविजय, प्रत्याहार और ब्रह्मचर्य, आर्य और अनार्य इत्यादि का जो विवेचन आपने किया है वह अत्युत्तम है। पुस्तक के अन्त में अनुशासन पर्व के आधार पर मृत्यु को जीतने के जो उपाय लिखे हैं यदि श्लोकों का भी साथ साथ उल्लेख होता तो छात्रों तथा अन्यों के लिए उनको स्मरण करना सुगम हो जाता।[१]

सम्पूर्णतया यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी, स्फूर्तिदायक और अत्यन्त उपादेय है जिसके लिए आप अभिनन्दन के पात्र हैं।

धर्मदेव विद्यामार्तण्ड (देवमुनि वानप्रस्थ)
आनन्द कुटीर, ज्वालापुर

---

१. पृ० ५७-५८ पर श्लोक दे दिये हैं।

समालोचना

वन्दनीय श्री आचार्य कृष्ण (दीक्षानन्द जी) के नवरचित **'मृत्यञ्जय सर्वस्व'** नामक पुष्प से सुवासित होने और दर्शन करने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्री आचार्य जी एक उच्च कोटि के अनुभवी स्वाध्याय-शील विद्वान् तथा सच्चे ईश्वर भक्त हैं।

'मृत्युञ्जय सर्वस्व'—यह चौथा पुष्प है जो आपने सर्वसाधारण जनता तथा प्रभु भक्तों को सन्मार्ग दर्शाने के लिए उस माला के लिए ग्रथित किया है जिसका नाम आपने **'सर्वस्व ग्रंथमाला'** स्वीकार किया है।

आपकी लेखन शैली अद्‌भुत है, सरल, स्पष्ट शब्दों में युक्तियों तथा प्रमाणों से सुसज्जित मृत्युञ्जय मन्त्र यजु. ३-६० की अनुपम व्याख्या की है। मुख्य पृष्ठ पर मन्त्र का साकाररूप देकर व्याख्या को बहुत सरल तथा सुगम बना दिया है।

इस मंत्र से मृत्यु पर विजय कैसे प्राप्त की जाए और वास्तव में विजय है क्या ? अमरत्व प्राप्त करने के लिए इस मार्ग से प्रत्येक अभि-लाषी को गुज़रना ही होगा। यह सब कुछ दृष्टांतों से समझाया गया है।

अमरत्व क्या है, उर्वारुक (खरबूज़ा) से उसे उपमा क्यों दी गई है। खरबूज़े का बाह्य और आन्तरिक रचना से उपासक को क्या शिक्षा मिलती है और उसमें प्रगति की सफलता के क्या चिह्न हैं, बड़े ही रोचक शब्दों में अपने अभिप्राय का चित्रण किया है।

'त्र्यम्बक'—शिव को क्यों कहते हैं उसकी पूजा से हमें क्या लाभ प्राप्त होता है। त्र्यम्बक के साथ **'सुगन्धिम्', 'पुष्टिवर्धनम्', 'पतिवे-दनम्'** का प्रयोग क्यों किया गया। भक्त की मानसिक अवस्थाओं का सुन्दर शब्दों में निरूपण मिलता है। है तो लघु-सी पुस्तक केवल ६४ पृष्ठ की परन्तु प्रत्येक पृष्ठ अमूल्य विचारों से आप्लावित है, हम चाहेंगे कि कोई भी आर्य ऐसी पुस्तक के स्वाध्याय से वञ्चित न रहे।

श्री आचार्य जी का हम आभार प्रकट करते हैं कि उन्होंने हमें इसके अवलोकन का अवसर प्रदान किया।

२७-३-७२

—विज्ञानानन्द सरस्वती
वैदिक भक्ति साधनाश्रम, रोहतक

विषय-सूची

मृत्युञ्जय-सर्वस्व

ब्राह्मण ग्रन्थों में **'असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतं गमय'**[१] एक सार्वभौम, सार्वजनीन प्रार्थना है। इस प्रकार की अथवा इससे मिलती-जुलती आर्ष अथवा लौकिक प्रार्थनाओं का आधार स्वयं भगवती श्रुति है।

जीवन-संघर्ष में पड़े व्यक्ति के सामने सदा से दो पक्ष खुले रहे हैं-असत्-सत्, तमस्-ज्योति, मृत्यु-अमृत। विवेकशील व्यक्ति पहले को छोड़ दूसरे को अपनाता है। मन्दमति व्यक्ति ही सत्य की तुलना में असत्य का, ज्योति की तुलना में अन्धकार का और अमृत की तुलना में मृत्यु का वरण करेगा। इस उपर्युक्त उपदेश का सार उसका अन्तिम चरण 'मृत्योर्मा अमृतं गमय' ही है[२]।

इसी तथ्य को ईश्वरीय वाणी में **"मृत्योर्मुक्षीय मा अमृतात्"** ऐसा कहा है-हे प्रभो ! मुझे मृत्यु-बन्धन से छुड़ा, अमृतत्व से नहीं। यह टेक जिस मन्त्र की है, उसे वैदिक वाङ्मय में 'महामृत्युञ्जय' नाम दिया गया है। इस मन्त्र पर हिन्दुमात्र की ऐसी आस्था है कि इसके जप से मृत्यु-बन्धन से मुक्ति मिल जाती है। मन्त्र का पूर्ण स्वरूप यजु० ३। ६० में निम्नलिखित है।

---

१. शतपथब्राह्मण १४।४।१।३०

२. मृत्योर्मा अमृतं गमय। स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत् सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमय अमृतं मा कुरु इति एवैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुरु एवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति।

-शत० १४।४।१।३१,३२॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥

इसका पूर्वार्ध अक्षरशः ऋग्वेद ७। ५९। १२ में विद्यमान है और इसका उत्तरार्ध तीन शब्दों के परिवर्तन से अथर्ववेद १४। १। १७ में। **'त्र्यम्बकम्'** के स्थान पर **'अर्यमणम्'** पद, **'सुगन्धिम्'** के स्थान पर **'सुबन्धुम्'** और अन्तिम चरण के **मुक्षीय** पद के स्थान पर **मुञ्चामि** पद का प्रयोग हुआ है।

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥

तैत्तिरीय संहिता के १। ८। १६ में भी यह मन्त्र उल्लिखित है, तथा निरुक्त १४। ३५ में भी व्याख्यात है।

यजुर्वेद में आये मन्त्र के ये दो विभाग सोद्देश्य हैं। पूर्वार्ध उत्तरार्ध का और उत्तरार्ध पूर्वार्ध का पूरक है। पूर्वार्ध में यदि मुमुक्षु की पुकार है, तो उत्तरार्ध में नववधू के हृदय की पुकार है। मन्त्र के उत्तरार्ध के प्रथम चरण के **"पतिवेदनम्"** और द्वितीय चरण के **"इतो मुक्षीय मामुतः"** से यह ध्वनित होता है कि कोई कन्या पति का लाभ (पतिवेदन) करानेवाले त्र्यम्बक अर्थात् परब्रह्म, न्यायाधीश अथवा अपने आचार्य से कह रही

वह जब 'असतो मा सद्गमय' कहता है तब वह मानो 'मृत्योर्माऽमृतं' ही कहता है क्योंकि 'असत्' मृत्यु है, 'सत्' अमृत है; उसके कहने का अभिप्राय यही होता है कि मुझे अमृत प्रदान करो। और जब वह 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' कहता है तब भी वह मानो 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' ही कहता है क्योंकि 'तमस्' मृत्यु है, 'ज्योति' अमृत है; उसके कहने का यही अभिप्राय होता है कि मुझे अमृत प्रदान करो। 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' का अर्थ तो अति स्पष्ट है, मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो।

है कि मुझे यहां से अर्थात् पितृ-कुल, माता-पिता, भ्राता आदि के बन्धन से छुड़ा, पति-कुल से नहीं; क्योंकि पति-बन्धन मेरे लिए अमृत है, सौभाग्यप्रद है।

उत्तरार्ध की प्रार्थी कन्या के ये हार्दिक भाव पूर्वार्ध के प्रार्थी मुमुक्षु के लिए मार्ग-दर्शक का काम देते हैं। मुमुक्षु को यह समझना चाहिए कि मृत्यु-बन्धन पितृ-बन्धन के तुल्य और अमृत-बन्धन पति-बन्धन के तुल्य है। जिस प्रकार कन्या को पितृ-बन्धन नहीं अखरता, उसी प्रकार मुमुक्षु को मृत्यु-बन्धन भी नहीं अखरना चाहिए। जिस प्रकार कन्या के लिए पति-लाभ सौभाग्य का हेतु है, उसी प्रकार मुमुक्षु के लिए अमृत-लाभ परम आनन्द का हेतु है।

मुमुक्षु को जहां उक्त बात ध्यान में रखनी होगी, वहां यह भी समझ लेना होगा कि उसे वहां से-मुक्तावस्था से यदा-कदा लौटना भी होगा। सर्वथा उसी प्रकार लौटना होगा कि जिस प्रकार कोई कन्या यदा-कदा पति-गृह से पितृ-गृह का फेरा डालती है। कन्या फेरा डालने आती है, सर्वथा रहने नहीं। उसका कर्तव्य पूरा हुआ कि पतिगृह को वापस चली जाती है। बस उसी प्रकार मुक्त जीव को भी कर्तव्य-पालनार्थ जगत् में आना होगा। धर्म-संस्थापना[१] रूप कर्तव्य पूर्ण होते ही वापस चल देना होगा। उसका असली डेरा वही है, यह दुनिया नहीं। यह कर्म-भूमि[२] है, वह फल-भूमि। उसे यहां ठहरना नहीं, रुकना नहीं, आगे बढ़ना है।

जहां मुमुक्षु को ऐसा समझना आवश्यक है, वहां कन्या को भी यह समझना आवश्यक है कि उसे पितृगृह से पककर ही छूटना होगा; कच्ची अवस्था में नहीं, हठात् चटककर पृथक् होना नहीं, क्योंकि कच्चा

१. धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि। (गीता० ४।८)
२. कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फल भूमिरसौ मता। (महा० वनपर्व २६१।३५)

फल किसी के उपयोग का नहीं रहता- सर्वथा नीरस, निर्गन्ध, नीरूप, स्वयं सड़ जाये, सम्पर्क में आने वालों को भी सड़ा दे । कन्या का कच्ची अवस्था में छूट जाना भी ऐसा ही है जैसे फल का कच्चा टूट जाना ।

इससे पहले कि हम मन्त्र की विस्तृत व्याख्या लिखें, मन्त्र का संक्षेप में पदार्थ लिख देना चाहते हैं-कुमार ब्रह्मचारी अथवा मुमुक्षु अपने सखा-साथियों को सम्मिलित कर कह रहा है कि आओ बन्धुओ ! हम सभी मिलकर **(त्र्यम्बकम्)** वात्सल्यरस से परिपूर्ण अकार, उकार, मकार रूप तीन ध्वनि देनेवाले [ब्रह्म, अर्यमा = न्यायाधीश, आचार्य अथवा पिता] की **(यजामहे)** संगति करें । मिलकर प्रार्थना करें कि वे अर्यमन् ! आचार्य ! पिता ! **(इव)** [कि] जिस प्रकार **(सुगन्धिम्)** शोभनगन्धयुक्त **(पुष्टिवर्धनम्)** पुष्टि के बढ़ानेवाला **(उर्वारुकम्)** खरबूज़ा फल **(बन्धनात्)** डाल से [अनायास छूट जाता है] वैसे ही [अपने सखा-साथियों को मुक्ति के लिए उत्सुक न देखकर सर्वथा एकाकी] मुझे **(मृत्योः)** मृत्यु के, अविद्या के **(बन्धनात्)** बन्धन से [अनायास] **(मुक्षीय)** छुड़ा दो, परन्तु **(अमृतात्)** आनन्द-रस से, विद्या से **(मा)** मत पृथक् करो ।

मन्त्र की विस्तृत व्याख्या के लिए हम यह क्रम अपनाते हैं कि मंत्र के अन्तिम चरण **'बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्'** की व्याख्या करते हुए प्रथम चरण की ओर आयेंगे ।

मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्-

मुमुक्षु की मन्त्रगत प्रार्थना का जो सर्वप्रथम फलितार्थ उपलब्ध होता है, वह यह है कि बन्धन उपादेय वस्तु है । मन्त्र के इस चरण में जहां मृत्यु-बन्धन से छूटने की प्रार्थना है, वहां अमृत से जुड़े रहने की भी प्रार्थना है । इससे यह स्पष्ट होता है कि कोई बन्धन ऐसा भी है जिससे जुड़ा रहना अभीष्ट है, सर्वतः मुक्त होना नहीं । यदि बन्धन त्याज्य वस्तु होती तो

भक्त की प्रार्थना **'मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्'** न होकर **"बन्धनात् सर्वतो मुक्षीय"** होती। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि जीव का देह धारण करना, जैसे एक प्रकार का बन्धन है, वैसे ही ब्रह्म से आबद्ध हो जाना भी एक प्रकार का बन्धन है। अन्तर इतना ही है कि प्रथम बन्धन सुख-दुःख मिश्रित है, जबकि द्वितीय बन्धन शुद्ध आनन्द की स्थिति है। हम दोनों को बन्धन कहेंगे।

प्रथम फलितार्थ-

परमात्मा स्वभावतः मुक्त है; जीव निमित्ततः बद्ध है, वह एक-न-एक बन्धन से अवश्य बंधा रहेगा। मृत्यु-बन्धन से छूटेगा तो अमृत-बन्धन से जुड़ेगा। भक्त की यह सहज प्रार्थना है कि मुझे मृत्यु से छुड़ा दो, अमृतत्व से नहीं। मन्त्रोक्त प्रार्थना का प्रथम फलितार्थ यही हुआ कि बन्धन उपादेय वस्तु है। **'मा अमृतात्! मा अमृतात्!'**

द्वितीय फलितार्थ-

भक्त की उक्त प्रार्थना का दूसरा फलितार्थ यह निकला कि बन्धन दो प्रकार का है-एक मृत्यु का, दूसरा अमृत का; एक हेय, दूसरा उपादेय; एक त्याज्य, दूसरा ग्राह्य। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है-प्रायः देखने में आता है कि भवन-निर्माण कराते समय इस बात का विशेष ध्यान रक्खा जाता है कि उसके हर द्वार पर अन्दर-बाहिर दोनों ओर सांकल या चटखनी लगी हों। एक सांकल अन्दर से बन्द करने के लिए हो तो दूसरी बाहिर से बन्द करने के लिए। अन्दर की सांकल स्वयं बन्द करने के लिए, बाहिर की सांकल दूसरे के द्वारा बंद किये जाने के लिए। अन्दर की सांकल अपने हाथ में तो बाहिर की दूसरे के हाथ में। अन्दर-बाहिर के सांकल के बन्धन में जो अन्तर है, वही अन्तर मृत्यु और अमृत के बन्धन में है। मृत्यु-बन्धन की सांकल अपने हाथ में नहीं, दूसरे के हाथ में है। अमृत-बन्धन की सांकल दूसरे के नहीं, अपने हाथ में है।

यह बात भवन के अन्दर-बाहिर की सांकल के उदाहरण से स्पष्ट होती है।

मुमुक्षो ! एक भवन ऐसा भी है जिसके चारों द्वारों पर सांकल एक ओर ही होती है, केवल बाहिर की ओर; उसे हावालत या जेल की कोठरी कहते हैं। यदि ऐसा न हो तो घर और जेल में कोई अन्तर ही न रहे। घर वह है जहां स्वयं सांकल चढ़ाकर बंद हुआ जाता है और कारागार वह है जहां दूसरे के द्वारा सांकल चढ़ाकर बंद किया जाता है ताकि सांकल अपराधी के हाथ में न रहे, जेलर के हाथ में ही रहे। यदि ऐसा न हो तो कारागार कारागार ही न रहे। वह जेल है, घर नहीं। जेलर की इच्छा पर है कब सांकल चढ़ाये और कब खोल दे। जो अन्तर कारागार और घर में है, वही अन्तर इहलोक और परलोक में है, संसार और मोक्ष में है।

इस मन्त्र-चरण का द्वितीय फलितार्थ यह निकला कि बन्धन दो प्रकार का है-एक मृत्यु का, दूसरा अमृत का। पहला दूसरे से प्रदत्त, और दूसरा स्वेच्छा से गृहीत; एक त्याज्य, दूसरा ग्राह्य। 'मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्'-'मुझे मृत्यु-बन्धन से मुक्त कर दो और अमृत-बन्धन से युक्त रहने दो।

साधक की इस पुकार को सुन परमात्मा ने कहा कि ऐ भक्त ! बन्धन की सांकल किसी और के हाथ में नहीं, तेरे प्रिय सखा के हाथ में है। वह केवल तेरा हित-चिन्तक सखा ही नहीं, माता, पिता, आचार्य सभी कुछ है। यह भी तेरे लिए हितकर है। परन्तु भक्त तो भगत ही ठहरा। उसे तो एक ही धुन है, एक ही रट है-**मृत्योर्मुक्षीय, मृत्योर्मुक्षीय !**

भगत के आग्रह को देख किसी उपदेष्टा ने उसे कहा, ओ नादान ! यह मर्त्यबन्धन तेरे प्रिय सखा का दिया हुआ है। ज़रा सोच, क्या कभी वह तेरा अहित चाहेगा ? यदि अमृतत्व उसकी छाया है तो मृत्यु भी उसी

की छाया है । **'यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः'**[१]-मृत्यु-बन्धन को भी उसकी कृपा समझ, वरदान समझ । मृत्यु-बन्धन में ही तेरा हित निहित है । तुझे तो उसी की रज़ा में राज़ी रहना चाहिए । तू तो यही गा, यही गुनगुना-

राज़ी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा है ।
यां यूं भी वाहवाह है और त्यूं भी वाहवाह है ॥

इस प्रकार उपदेष्टा के सहानुभूतिपूर्ण शब्दों को सुनकर भक्त ने पूछ ही लिया कि महात्मन् ! यह तो बताओ कि मृत्यु-बन्धन में कौन-सा हित है ? उपदेष्टा ने समाधान किया कि इस मंत्र की उपमा पर ध्यान दे, रहस्य खुल जायगा । तूने प्रार्थना में कहा है कि मुझे मृत्यु-बन्धन से ऐसे ही छुड़ा दो जैसे खरबूज़ा फल अपनी डाल से छूट जाता है । आ, सर्वप्रथम यह सोच कि खरबूज़ा-फल अपनी डाल से कैसे छूटता है । आ चल, इस उपमा पर विचार करें ।

उर्वारुकमिव-

उपमानभूत यह मंत्र-चरण मंत्र की आत्मा है । इसे जितना अच्छी प्रकार से समझा जा सके उतना ही उत्तम है । फिर तो मृत्यु-बन्धन भी वरदान प्रतीत होने लगेगा । इस उपमा का भाष्य परमात्मा द्वारा किये भाष्य में ही पढ़ना होगा । जहां परमात्मा ने मन्त्रात्मक ज्ञान दिया है, वहां साथ-ही-साथ हर मंत्र का भाष्य भी स्वयं कर दिया है । ये चारों संहिताएं पुस्तक-रूप में तेरे सामने ज्ञान की निधि हैं जो मूल मात्र हैं । इन पर लिखा हुआ परमात्मकृत भाष्य इतना विस्तृत है कि उसे पुस्तक का रूप नहीं दिया जा सकता । उसका एक ही पन्ना इतना विस्तृत है कि उसे पढ़ते-पढ़ते आंखें पथरा जायें । सारी आयु बीत जाय, फिर भी वह समाप्त न हो । अरे उपासक ! कुछ समझा ? यह ब्रह्माण्ड ही वह भाष्य है, जिसका प्रमाण कण-कण, पत्र-पुष्प, लता-गुल्म स्वयं दे रहे हैं । जिस पृथिवी पर

---

१. यजुर्वेद २५ । १३

तू बसा है वह भी तो उस विशाल भाष्य का पन्ना मात्र ही है । उसके एक खण्ड पर **'उर्वारुकमिव बन्धनात्'** का भाष्य लिखा है, आ उसे पढ़ें ।

चल शहर से दूर, इस शोरोशर की दुनिया से परे, खेत पर चल । वहां माली ने खरबूज़े लगा रक्खे हैं । आ देख ! बेलों को टटोल, कुछ समझ ! वह देख, सामनेवाला खरबूज़ा डाल से स्वयं लुढ़ककर अलग हो गया है । किसी ने छुड़ाया नहीं । हाथ तक छुआया नहीं । जब पक जाता है, तो खरबूज़ा स्वयं सहज ही छूट जाता है । ऐ भक्त ! तू यह जान ले कि समय आने पर तू भी ऐसे ही मृत्यु-बन्धन से अनायास छूट जाएगा ।

तृतीय फलितार्थ-

छूटने के लिए पकना आवश्यक है !

मुमुक्षो ! आ, अब यह समझें कि खरबूज़ा फल डाल से कैसे छूटता है । तुझे पता न हो तो माली से पूछ ले । उससे क्या पूछना है, मैं ही बता देता हूं, क्योंकि मैंने भी अपने आश्रम में खरबूज़े लगाकर देखे थे । मुझे अनुभव है कि खरबूज़ा अपनी डाल से पककर ही छूटता है । कच्ची अवस्था में न डाल ही छोड़ती है, न खरबूज़ा ही छूटता है । बन्धन इतना कड़ा होता है कि हाथ से तोड़ना कठिन हो जाता है; पैनी धारवाले चाकू से ही काम लेना पड़ता है, काटना पड़ता है । उस अवस्था में भी डालवाला भाग खरबूज़े में लगा रहता है-खुभा रहता है । पके हुए खरबूज़े में निशान स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । डाल सर्वथा बेल के साथ चली जाती है, खरबूज़ा लुढ़ककर अलग हो जाता है-सर्वथा मुक्त, सर्वथा अलग । ऐ भक्त ! यदि तू मुक्त होना चाहता है, तो पकना आरम्भ कर ।

चतुर्थ फलितार्थ-

पकने के लिए जुड़ना आवश्यक है !

जहां यह स्पष्ट है कि छूटने के लिए पकना आवश्यक है, वहां यह

भी निश्चित है कि पकने के लिए जुड़ना आवश्यक है । जहां बिना पके छूटना असम्भव है, वहां बिना जुड़े पकना भी असम्भव है । निष्कर्ष यह हुआ कि मुक्ति के लिए बंधना आवश्यक है, और यही कारण है कि तुझे मृत्यु-बन्धन में डाला हुआ है । अब समझ गया होगा कि बन्धन क्यों आवश्यक है । एक बन्धन पकने से पहले है तो दूसरा पकने के उपरान्त, पहला परिपाक के लिए तो दूसरा मुक्ति के लिए : बन्धन परिपाक का हेतु है और परिपाक मुक्ति का ।

उपमा का स्पष्टीकरण-

आओ ! इस उपमा को ज़रा स्पष्टतया समझ लें । मान लो कि यह विश्व एक मर्त्य-बेल है । उसमें जुड़े हुए मनुष्य उर्वारुक फल हैं । इन मनुष्यरूप फलों को मर्त्य-बेल से जोड़ने-वाली वासना-नामक डाल है । त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही विश्व-बेल की जड़ है । जड़ को जमाने के लिए 'त्र्यम्बक' भूमि है । विश्व-बेल के मूल में त्र्यम्बक है और डाल में उर्वारुक । बेल है, मूल है, फल है, डाल है और भूमि है । विश्व है, प्रकृति है, जीव है, वासना है और परमात्मा है । यह बेल सदा हरी-भरी रहती है । फल लगते हैं, पकते हैं, झड़ जाते हैं और नये लगते हैं । यह विश्व-बेल नित्य फूलती है, फलती है । इसके मूल का आरोपण उस आश्रय-भूमि में हुआ है जिसका रस अक्षय है[१], अनून है जहां से रस नित्य प्रवाहित होता रहता है । आश्चर्य तो यही है कि फल संयुक्त होते हैं, पकते हैं, मुक्त हो जाते हैं, शेष ठाठ वैसे-का-वैसा ही बना रहता है ।

डाल की महिमा-

डाल ही वह माध्यम है, जो फल को बेल से युक्त किये रहती है । डाल ही वह माध्यम है, जो फल तक रसादि पहुंचाती रहती है अन्ततः

---

१. अकामो धीरोऽअमृतः स्वयम्भू रसेन तृतप्तो न कुतश्चनोनः ।
अथर्व० १० । ८ । ४४

फल परिपक्व हो जाता है। अध्यात्म-क्षेत्र में वासना ही वह डाल है जिसके माध्यम से जीव जगत् से जुड़ा रहता है और वासना ही वह माध्यम है कि जिससे जीव रस को ग्रहण कर परिपक्व हो पाता है। परिपक्व होते ही जीवन-फल डाल से स्वत: पृथक् हो जाता है। वासना-डाल जगत् में ही रह जाती है। वासना-डाल से पृथक् हो जाना ही मुक्त होना है। परिपक्व होने की अवधि तक जुड़े रहना मृत्यु से युक्त होना है।

सम्भवत: उक्त उपमा को मूर्तरूप देने के लिए ही शिखा का विधान किया गया प्रतीत होता है। शिखा प्रतीक है वासना-डाल का। इसलिए कि शिखा के नीचे ही तो वासना-तन्तु रहते हैं जो जीव को जकड़े रहते हैं-उसी समय तक के लिए, जब तक की व्यक्ति परिपक्व नहीं हो जाता। फिर तो इनके मुण्डन का अवसर आ जाता है। मुण्डन उसी समय कराया जाता है जब एक परिपाक के बाद दूसरे परिपाक की तैयारी होती है। पूर्ण परिपाक हो जाने के बाद पुन: शिखा धारण नहीं की जाती।

प्रिय मुमुक्षो ! हमने केशों को डाल का स्थानापन्न माना है, बन्धन के साधन-वृन्त (डाल) का प्रतीक।

मुण्डन के भी तीन भेद हैं और चार अवसर। मुण्डन, लुञ्चन और मुञ्चन तीन भेद। **चूडाकर्म, उपनयन, समावर्तन** और **संन्यास** चार अवसर। एक बन्धन से छुड़ाकर दूसरे के लिए लौटना समावर्तन कहलाता है। ऐसे हर समावर्तन पर मुण्डन आवश्यक है। जीव का मुक्ति से लौट आना समावर्तन है। जगत् से मुक्ति को लौट जाना भी समावर्तन है। जीव का मुक्ति से जगत् में आना मातृकुक्षि के माध्यम से होता है जो प्रथम समावर्तन है। माता-पिता की गोदी से आचार्य के संरक्षण में जाना समावर्तन है। आचार्य-कुल से गृहस्थ के लिए लौटा लेना समावर्तन है। गृहस्थ या वानप्रस्थ का संन्यास में जाना समावर्तन है।

संन्यास ग्रहण करते समय व्यक्ति ने मुण्डन कराया, सिर पर एक भी बाल न बचा। मृत्यु को घबराहट हुई कि इसे कहां से पकड़ूं जिससे संसार में लौटा सकूं? इसलिए मातृ-कुक्षि में जीव को नाभिकेन्द्र से पकड़ा। देह-परिपाक उसी नाड़ी के माध्यम से होता रहा, उधर वासना-तन्तु निकल आए। उन्होंने केशों का रूप धारण किया और ज्यों ही जीव का मातृ-कुक्षि के माध्यम से जगत् में समावर्तन (पुनरागमन) होने लगा, तो वह सिर के बल आया, मानो मृत्यु से कह रहा हो कि मुझे केशों से पकड़कर अपने बन्धन में ले लो। बन्धन में पड़ा हुआ जीव बहुत दिनों तक माता की गोद में खेलता रहा। फिर अवसर आया, पिता ने विचार किया कि देखना चाहिए कि इस जीव को बांधनेवाले कौन-से वासना-तन्तु हैं, जिन्हें मुंडवा दें। बच्चे के आन्तरिक विषैले तत्त्वों का निस्सरण हो रहा है। जहां वे तत्त्व मल-मूत्र, पसीने आदि के माध्यम से निकलते हैं, वहां केशों के माध्यम से भी निकलते हैं। यह प्रथम मुण्डन तो हो ही जाना चाहिए। परन्तु इस मुण्डन-विधि के पीछे यह आध्यात्मिक भावना है कि माता-पिता, गुरुजन-सूक्ष्म निरीक्षण करें कि कौन-से वासना-तन्तु हैं जिनसे जीव संसार से आबद्ध हुआ है? उनको जानकर उनका उन्मूलन करें, जिससे मृत्यु के हाथ कुछ भी न आ सके। परन्तु होता यह है कि माता-पिता भी राग-द्वेषादि वासनाओं का ऐसा बीजारोपण करते हैं कि कुछ ही दिनों में नये बाल निकल आते हैं। यह अवस्था देख मनीषियों ने व्यवस्था बनाई कि बालक को आचार्य के सुपुर्द कर दो, वह ही वासना-शिखा को निर्मूल करेगा। आचार्य ने मृत्यु और वरुण का रूप धारण किया और बालक **'गृहीत इव केशेषु मृत्युना'**[1] धर्माचरण करने लगा। उपनयन हुआ और उससे पहले ही आचार्य ने शिखामात्र रखकर मुण्डन करा दिया। जिससे पकड़ना मात्र था उस शिखा को रक्खा, शेष वासना-तन्तुओं को मुंडा दिया। बालक आचार्य के उदर में पकता रहा

---

१. महाभारत

और स्नातक होने का अवसर आया । समावर्तन-वेला में प्रजापति ने पुनः संसार में लौटाने के लिए कहा, '**निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय**[१] ।' फिर मुण्डन हुआ । कुछ बाल शेष थे, उससे पकड़े हुए स्नातक को संसार में ले आए । वह गृहस्थ बना, कर्तव्य करता रहा । सुखोपभोग से तृप्त हो लिया, फिर पूर्ण वैराग्यवान् होकर सर्वथा वासनाशून्य होने की घोषणा कर दी-'**पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा मया परित्यक्ता**[२] ।' इस अवसर पर शिखा-सहित मुण्डन करा लिया । दो-चार बाल रह गये थे, उनका अपने हाथ से लुञ्चन किया और ब्रह्म से युक्त हो गया । मानो मुक्ति के लिए पुकारता हुआ कोई कह रहा हो-'**निवर्तयामि मोक्षाय आनन्दाय ब्रह्मदर्शनाय** ।' यह उसका अन्तिम समावर्तन था ।

फल पक चुका था । सहज मुक्ति का अवसर आया । डाल बेल के साथ चली गई । संन्यासी का शिखा-शून्य सिर इस बात का प्रतीक है कि खरबूज़ा फल पककर मर्त्य-बेल से अलग हो गया है । संसार के वासना-तन्तु संसार में ही रह गए । अब वह किसी की पकड़ में आनेवाला नहीं; उसने वासना-तन्तु रहने ही नहीं दिये । यह सम्पूर्ण मुण्डन-विधि का रहस्य है ।

केश-लुञ्चन-

जैन साधु उस्तरे आदि साधनों से मुण्डन न कराकर एक-एक बाल नोचते हैं । उनकी यह प्रक्रिया उस समय तक चालू रहती है जब तक केशों का उगना समाप्त नहीं हो जाता । केश ने सिर निकाला कि इन्होंने उखाड़ा । केशों के मूलोच्छेद होने तक यह प्रक्रिया जारी रहती है ।

---

१. यजु० ३-६३ २. संस्कार विधि सं० प्र०

हम लिख चुके हैं कि वैदिक संन्यासी जहां सारे बाल उस्तरे से मुंडवा लेता है, वहां शिखास्थानीय दो-चार बाल बचाकर स्वयं अपने हाथ से नोचते हुए मानो कहता है कि ऐ लोगो ! अब कोई वासना-तन्तु सिर न निकालेगा, मैंने इनका मूलोच्छेद कर दिया है। कदाचित् एक भी वासना-तार बचा रहा तो समझ लेना कि मैं अभी कच्चा ही हूं। फल कच्चा ही तोड़ लिया गया। मुझे पकने के लिए पुनः बन्धन में आना होगा। क्योंकि जहां छूटने के लिए पकना आवश्यक है, वहां पकने के लिए बंधना आवश्यक है। निस्सन्देह केशों को मुंडाकर कोई व्यक्ति **संन्यासी** नहीं होता और न कोई इन्हें रखकर **विन्यासी** ही होता है। कबीर के शब्दों में यूं कहूंगा-

केसन कहा बिगारिया, जो मूंडे सौ बार।
मन को कहा न मूंडिये, जा में बिसे-बिकार॥

बेचारे केशों ने क्या बिगाड़ा है जो इन्हें प्रतिदिन मूंडता है ? उस मन को क्यों नहीं मूंडता जिसमें विषय-विकार का जाल फैला है ? यह समझकर ही हमने शिखा को मात्र बंधन का प्रतीक माना है। उसका रहनाबंधन का द्योतक, उसका मुण्डन मुक्त होने का सूचक है।

केश-मुञ्चन-

यह व्याख्या अपूर्ण रह जायगी यदि केश-मुञ्चन की व्याख्या न की जाय। पुरुषों के लिए जहां केश-मुण्डन की विधि है, वहां स्त्रियों के लिए केश-मुञ्चन की व्यवस्था है। यहां बंधे हुए केशो को खोलकर पुनः बांध दिया जाता है; इससे हमारी स्थापना को बल मिलता है कि शिखा अथवा केश, बन्धन का प्रतीक हैं। उधर बन्धन का साधन डाल है, इधर उसी का प्रतीक शिखा है। हमारी दूसरी स्थापना को भी बल मिलता है कि परिपक्व होने के पश्चात् एक बार केशों का **मुण्डन**, **लुञ्चन** अथवा **मुञ्चन** (मोचन) अवश्य होगा।

विवाह-संस्कार में केश-मुञ्चनविधि आती है। पति नववधू को एकान्त में ले-जाकर उसके केशों को खोलता और उन्हें पुनः बांधता है। यहां केश-मुञ्चन केवल पहले बन्धन (पितृगृह) से छुड़ाकर अपने साथ बांधने का द्योतक है। अथर्ववेद[1] में सूर्या के विवाहावसर पर जहां केश-मुञ्चन की बात आई है, वहां जिस मन्त्र का विनियोग हुआ है, वह इसी मृत्युञ्जय मन्त्र के कुछ शब्दों का परिवर्तन मात्र है। वहां **'त्र्यम्बकं यजामहे'** के स्थान पर **'अर्यमणं यजामहे'** है। **'सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्'** के स्थान पर **'सुबन्धुं पतिवेदनम्'**, **'उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः'** है। और ठीक इससे अगले १८, १९ दो मंत्र तो विवाह-संस्कार में केश-मुञ्चन-विधि में विनियुक्त हैं। वहां लिखा है (१) **'प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्'** और **'प्रेतो मुञ्चामि नामुतः, सुबद्धाममुतस्करम्। यथेयमिन्द्र मीढ्वः, सुपुत्रा सुभगासति।'** इन दोनों मन्त्रों को बोलकर प्रथम वधू के केशों को छोड़ना (खोलना), उक्त तीनों मन्त्रों[2] में आए **'प्रेतो मुञ्चामि'**, **'प्र त्वा मुञ्चामि'**, **'प्रेतो मुञ्चामि'** शब्दों का प्रयोग बतला रहा है कि नववधू की इस पुकार **'इतो मुक्षीय नामुतः'** को सुनकर ही वर **'इतः मुञ्चामि'** कहकर वधू के केशों को खोलकर कहता है कि तुझे पितृ-कुल से छुड़ाता हूं, पतिकुल से नहीं। इससे स्पष्ट हो गया कि केश बन्धन का प्रतीक हैं। मृत्यु और वरुण के हाथ में पकड़ने का साधन केश ही तो हैं। प्रसिद्ध श्लोक-**'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्**[3]।' तो ऐ भक्त! तू समझ ही गया कि मृत्यु का बन्धन तेरे लिए कितना श्रेयस्कर है। इसमें बंधे बिना पकना असम्भव है और पके बिना छूटना असम्भव। तेरी प्रार्थना की सिद्धि बन्धन में है, मुक्ति में नहीं।

हमारे दर्शन का पहला सूत्र **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'**[4] के स्थान पर **'अथातो**

---

१. अथर्व० १४।१।१७
२. अथर्व १४।१।१७-१९
३. महाभारत
४. ब्र० सू० १-१-१

बन्धजिज्ञासा' कहना उपयुक्त है। बन्धन की जिज्ञासा प्रत्येक व्यक्ति को होनी चाहिए। बन्धन क्या है? यह सृष्टि बन्धन का ही तो परिणाम है! इसका सौन्दर्य बन्धन पर ही तो आधारित है! पृथिवी सूर्य से बंधी है तथा प्रकाश से आलोकित रहती है। यदि यह बन्धन-मुक्त हो जाय, तो इसका अस्तित्व ही समापत हो जाय। इसका अणु-अणु बिखरकर आकाश में विलीन हो जाय। संसार की रचना में जिधर भी आप आंख उठाकर देखेंगे, इसी बन्धन का चमत्कार दिखाई देगा-भवन खड़े हैं, उनकी एक-एक ईट एक-दूसरे से बंधी है, एक दीवार दूसरे से जुड़ी है, दीवारों पर छत पड़ी है, तभी इनका सौन्दर्य है। जहां बन्धन ढीले हुए कि भवन धराशायी हो गया। परिवार का प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे से बंधा है। एक कुल दूसरे कुल से, सब कुल मिलकर ग्राम, नगर और राष्ट्र को जन्म देते हैं। इनकी इकाई=व्यक्ति अलग हो जाय तो न परिवार है न राष्ट्र, न समाज है न विश्व। यह सब बन्धन का ही परिणाम है। इसलिए हे मुमुक्षो! मृत्यु-बन्धन को भी बुरा न मानना, और उस बन्धन को तो कभी भी बुरा न मानना जिसकी सांकल तेरे प्रिय सखा के हाथ में हो। हमसे बंधा होने के कारण वह हमारा बन्धु है-**स नो बन्धुर्जनिता सविधाता**[1]। दोनों का बन्धुत्व तभी सार्थक है जब जीव ब्रह्म से बंधकर पूर्णतः परिपक्व हो जाय। उस परिपक्वता की पहचान खरबूज़े फल से ही समझी जा सकती है।

खरबूज़े की ही उपमा क्यो?-

इस वेद-मंत्र में खरबूज़े को ही उपमा देना परम कवि का चमत्कार है। मैं प्रायः सोचा करता था कि जब एक-से-एक उत्तम फल विद्यमान हैं तो खरबूज़े को ही उपमा क्यों बनाया गया? **उर्वारुकमिव बन्धनात्** ही क्यों? **आम्रमिव, द्राक्षमिव, कदलीमिव, नारिकेलमिव** क्यों नहीं?

---

१. यजुर्वेद ३२।१०

इनमें से किसी एक फल को उपमा बनाया होता तो क्या ही अच्छा होता ! विचारने पर यह ज्ञात हुआ कि मनुष्य को इस बात का बोध कराने के लिए कि वह अपने जीवन को कैसे सफल करे, इससे बढ़िया उपमा दी ही नहीं जा सकती थी । यह खरबूज़े फल से समझा जा सकता है । हम यह वर्णन कर चुके हैं कि व्यक्ति मृत्यु के बन्धन से तभी छूट सकता है जबकि वह पक जाय । यह छोटी-सी बात भी खरबूज़े फल से समझी जा सकती है, किसी अन्य से नहीं, क्योंकि यही एक ऐसा फल है जो पकने पर डाल से स्वतः पृथक् होता है । जहां पककर मुक्त होने की बात इस फल से सीखी जा सकती है, वहां जीवन-फल के परिपक्व होने की पहचान भी खरबूज़े फल से जानी जा सकती है । खरबूज़े फल के पकने की दस पहचान हैं । हे मुमुक्षो ! आ, खरबूज़े फल के पकने की पहचान कर ! उससे अपने जीवन की तुलना कर ! जब उस पहचान-कसौटी पर तू अपने को कसकर खरा बना लेगा तो तेरी परिपक्वता में कोई सन्देह नहीं रहेगा । परिपक्व होते ही मुक्त हो जायगा ।

पहली पहचान-

खरबूज़े के फल के पकने की पहली पहचान यह है कि डाल सर्वथा बेल के साथ चली जाये, फल के साथ न आए । डाल अथवा डाल के किसी भाग का फल के साथ आना उसके कच्चेपन की निशानी है । पके फल में यह सम्भव नहीं । मुमुक्षु व्यक्ति भी यह देखे कि संसार से मुक्त होते हुए कोई वासना मेरे साथ तो नहीं आई । यदि वासना का एक तार भी मेरे साथ आयगा तो वह पुनर्बन्धन का कारण होगा । झटका देकर कच्चे फल को तोड़ने से डाल के किसी भी तन्तु का साथ आना सम्भव है । इसलिए हे मुमुक्षो ! किसी घबराहट से, अथवा किसी आधि-व्याधि से, उतावलेपन से झटका देने का साहस न करना । अन्यथा वासनाओं के ये तार तेरे पीछे-पीछे चले आयेंगे और कहीं-न-कहीं उलझा लेंगे ।

इत्सिंग नाम के चीनी यात्री ने अपने यात्रा-वर्णन में महाराजा भर्तृहरि के इस दुस्साहस का वर्णन किया है । उन्होंने न केवल एक बार झटका देकर अपने को संसार से अलग करना चाहा था, अपितु छ: बार झटका देकर संन्यासी बने और पुन: छ: बार वापस लौटे । गृहस्थ के किन्हीं आन्तरिक झंझटों से तंग आकर वे झटका देकर संन्यासी होते थे अवशिष्ट वासनाएं उन्हें फिर वापस बुला लेती थीं ।

उनके जीवन की यह प्रसिद्ध घटना है कि वे सब राजपाट छोड़कर, धन-सम्पत्ति, कोष पर लात मारकर निकल पड़े । वे एक रात्रि में क्या देखते हैं कि चन्द्रमा की छिटकती चांदनी में कोई लाल-सी वस्तु चमक रही है । झट कल्पना कर बैठे कि किसी राह-चलते राही का लाल गिर गया है । सोचा, चलो उठा ही लो । उधर मन ने कहा-धिक्कार है ! सब सम्पत्ति, कोष छोड़ आए, परन्तु वासना नहीं छोड़ पाए, वह तो अब भी बाकी है ! कुछ कदम ही आगे गये थे कि लोभी मन ने उभारा दिया और बोला कि माना, तुम सम्पत्तिकोष सब छोड़ आए हो, परन्तु धन की तो सर्वत्र आवश्यकता रहती है, इसके बिना निर्वाह नहीं; तो चलो लौटो ! राह में पड़े हुए इस लाल को ही उठा लो, कहीं काम आ ही जायगा । वासना के तार ने उन्हें वापस लौटने को विवश कर दिया । वह कुछ कदम पीछे हटे और उन्होंने लाल को उठाने के लिए हाथ मारा । हाथ थूक में सन गया था । उन्हें समझते देर न लगी कि ओ मूर्ख ! यह तो किसी व्यक्ति ने पान खाकर थूक दिया था जो चांदनी में लाल लग रहा था । बड़ी आत्मग्लानि हुई, बड़ा पश्चाताप हुआ । ऐसी ही अवस्था हम सबकी होती है, क्योंकि वासना के तार व्यक्ति को विवश कर देते हैं, जिससे वह संसार-बेल से उलझा रहता है । अत: डाल बेल के साथ रहे, फल के साथ न आये । ऐ मुमुक्षो ! देखना, वासनाएं दुनिया में रहें, तेरे साथ न जाएं ! पकने की पहली पहचान यही है ।

दूसरी पहचान-

मुमुक्षो ! खरबूज़े फल के पकने की दूसरी पहचान है उसकी गन्ध। परिपक्व फल अपने पकने की सूचना गन्ध से देने लगता है। उसकी गन्ध से आसपास का वातावरण सुवासित हो उठता है। यह सुगन्ध तब तक रुकी हुई थी जब तक डाल जुड़ी हुई थी। डाल पृथक् हुई कि सुगन्ध फूट पड़ी। जिस प्रकार शीशी में बन्द पड़े हुए इत्र का कुछ पता नहीं कि इसमें क्या है, परन्तु जैसे ही डाट खुली कि सारा वातावरण सुवासित हो गया। अत: वातावरण को सुगन्धित करने के लिए डाल का पृथक् होना आवश्यक है। निष्कर्ष यह निकला कि बिना बंधे सुगन्ध उत्पन्न हो नहीं सकती और बिना छूटे सुगन्ध फैल नहीं सकती।

प्राय: देखा गया है कि घर में खरबूज़े लाए गए और उन्हें बच्चों की आंख से बचाकर रख दिया गया। बच्चों ने घर में प्रवेश करते ही ताड़ लिया कि आज तो घर में खरबूज़े आए हैं ! देखकर नहीं, सूंघकर।

इसी प्रकार हे मुमुक्षो ! तू मुक्ति का अधिकारी हुआ है या नहीं, इसकी जांच करनी हो तो खरबूज़े फल को उपमा बना लेना। देखना कि तेरे जीवन-फल की पुण्य गन्ध दिग्दिगन्त में व्याप्त हुई है या नहीं; यदि हो गई है तो अपने को मुक्ति का पात्र मानना, अन्यथा समझना कि अभी मैं कच्चा हूं; डाल पृथक् नहीं हुई है। वासना-डाल ने अभी तेरी गन्ध को रोका हुआ है। इसलिए निरन्तर पकने का प्रयास करते रहना, उस समय तक जब तक तेरी पुण्य गन्ध सर्वत्र नहीं फैल जाती। यह जीवन-फल के पकने की **दूसरी पहचान** है। लोग सुगन्ध पाकर तेरी ओर खिंचे चले आएं। लाख छुपा हुआ हो, तुझे ढूंढ ही निकालें।

तीसरी पहचान-

खरबूज़े के पकने की तीसरी पहचान है उसका **रंग-रूप**। जहां उसकी अन्तरात्मा सुगन्ध से परिपूर्ण हो, वहां बाहिर का रूप-रंग भी

आकर्षक हो, इतना कि साथी पर रंग छोड़े बिना न रहे ।

फल की सुगन्ध जहां दूर जाते व्यक्ति को समीप लाती है, वहां उसका रूप समीप आए व्यक्ति को प्रभावित करता है, अपना रंग छोड़ने लगता है, हिलने नहीं देता । इसलिए प्रायः खरबूज़ा खरीदते समय लोग जहां बार-बार गन्ध लेकर फल पकने की पहचान करते हैं, वहां उसकी रंगत भी देखते हैं ।

ऐ मुमुक्षो ! अपने पकने की जांच करने के लिए खरबूज़े फल को कसौटी बनाना । तू यह अवश्य देखना कि तेरे जीवन-फल की पुण्य गन्ध ने वातावरण को सुवासित किया अथवा नहीं ? लोग तेरे पास खिंचे चले आ रहे हैं अथवा नहीं ? तेरी संगति में बैठने को लालायित हैं वा नहीं ? यह भी देखना कि तेरे निकट आये व्यक्तियों पर कुछ रंग चढ़ा वा नहीं ? यदि तेरा रंग पड़ोसी पर चढ़ गया तो अपने को मुक्ति का अधिकारी समझना, यदि नहीं चढ़ा तो समझ लेना कि अभी तू कच्चा है, मृत्यु-बन्धन से छुटकारा न हो पायगा । यह सर्वथा असम्भव है कि पके हुए व्यक्ति की संगति में कोई आए और उसपर रंग न चढ़े । कहावत है कि **'खरबूज़ा खरबूज़े को देखकर रंग पकड़ता है ।'** यह मानना कि खरबूज़े के समीप लगे करेले पर रंग चढ़ना असम्भव है, परन्तु समीप लगे खरबूज़े पर तो रंग छोड़ ही देना । तेरी संगति में यदि मनुष्य आए तो तुझसे प्रभावित हुए बिना न लौटे । तेरे रंग में रंगा जाए । इसलिए अपने जीवनफल की परिपक्वता की जांच करने के लिए यह देख लेना कि पड़ोसी पर तू रंग छोड़ता है या नहीं ? यह फल के पकने और जीवन को परखने की **तीसरी पहचान** है ।

चौथी पहचान-

परिपक्व खरबूज़े की चौथी विशेषता यह है कि खरबूज़े में उसका रस समा नहीं पाता, वह फूटकर बहने लगता है । मानो निकट आए व्यक्ति

को कहता हो कि मेरी सुगन्ध और रूप पर ही मोहित न होओ, मेरे हृदय को टटोलकर देखो, उसमें रस-ही-रस भरा हुआ है, मैंने अपना हृदय आपके सामने खोलकर रख दिया है । यदि फिर भी मुझे न पहचान पाओ तो यही समझूंगा कि मेरे पारखी दुनिया में नहीं रहे ।

साधक ! तुझे भी देखना होगा कि तेरा हृदय-स्रोत जनता-जनार्दन की प्यास बुझाने को फूट पड़ा है कि नहीं ? यदि तेरा हृदय नीरस है तो यह दूर तक गन्ध पहुंचाना और आकर्षक रूप दिखावा मात्रा है, पाखण्ड है । इसलिए जैसे बाहिर से हो वैसे अन्दर से भी रहो ! हृदय में सरसता हो जिससे सरस्वती फूट पड़े, जिसका पान करके लोग तृप्त हो उठें । **'यदन्तरं तद्'**'बाह्यम्'[१]-बाहिर से भी आकर्षक, अन्दर से भी सरस ।

ऐ पारखी ! उर्वारुक-कसौटी पर अपने को कस ! एक-एक पहचान से अपना मिलान करता चल, तब कहीं मृत्यु-पाश से छूटने का नाम लेना । सर्वप्रथम यह देखना कि वासना-डाल पृथक् हुई वा नहीं ? दूसरे यह कि तेरी पुण्य-गन्ध सर्वत्र फैली वा नहीं ? तीसरा यह कि बाहर का रूप आकर्षक है वा नहीं, किसी पर चढ़ता है वा नहीं ? चौथी पहचान यह है कि तेरे हृदय-पात्र में रस भरा है वा नहीं ? वह पात्र किसी के लिए खुला है वा नहीं ? इन सबका अनुष्ठान करना !

पांचवीं पहचान-

खरबूज़े में यह रस इतना परिपूर्ण हो जाता है कि वह फूट पड़ता है । प्रायः इसीलिए लोग फटे हुए खरबूज़े को खरीदना पसंद करते हैं । उनको यह भरोसा होता है कि वह बड़ा मधुर होगा, और जैसे ही तराशकर एक फांक जिह्वा पर रक्खी कि सहसा मुंह से निकला-वाह ! मिश्री-सा मीठा है ! शहद-सा शीरीं है ! फिर तो पड़ौसी के मुंह में भी पानी आ

---

१. अथर्ववेद २ । ३० । ४

गया और उसने मांग की कि मित्रवर ! एक फांक हमें भी । प्रियवर ! एक हमें भी । लो, देखते-ही-देखते खरबूज़ा बंट गया । सभी की जिह्वा पर एक ही बात थी-क्या मिठास है ! मधु को भी मात कर दिया ! न केवल सुगन्ध ही दूर-दूर तक फैली, न केवल इसका रूप ही आकर्षक है, न केवल हृदय ही सरस है, अपितु माधुर्य से भरा हुआ है ।

इसी प्रकार हे जिज्ञासो ! यह व्यक्त होनेवाली वाणी ही मधुर न हो, उसका मूल स्रोत हृदय भी माधुर्य से भरा हो । सरस्वती का प्रवाह जहां अक्षय हो, वहां माधुर्य से भरा होना चाहिए-'**जिह्वाया अग्रे मधु, जिह्वामूले मधूलकम् ।**[१]'

खरबूज़े के पकने की **पांचवीं पहचान** से अपनी जांच कर लेना । ठीक इसी के तुल्य अन्तःकरण को मधुर बना लेना । फिर कहीं मृत्यु से छूटने का नाम लेना ।

छठी पहचान-

ऐ भक्त ! खरबूजे के अन्दर जंहा रस होता है, जहां माधुर्य होता है, वहां एकरूपता भी होती है । उसके पकने की यह छठी पहचान है । वह अन्दर से एकरस, एकरूप, एकरंग है । बाहिर की विविधता का उसके अन्तःकरण पर कोई प्रभाव नहीं । हो भी कैसे ? क्योंकि यह रंग उस अद्वितीय परब्रह्म का है जिसके रूप, रस, रंग में एकता है, फिर उससे आये हुए रंग में भिन्नता कैसे हो सकती है ? ब्रह्म अद्वैत है तो खरबूज़े फल का हृदय भी अद्वैत ।

ऐ मुमुक्षो ! अपने हृदय को जांचना, वहां इसी प्रकार की भावना की स्थापना कर लेना ! अपने-पराये की भावना को उसमें स्थान न देना ! समस्त वसुधा को अपने हृदय में संजो रखना ! फिर तू अमृत का अधिकारी होगा । बिना हाथ छुआए सहज ही पृथक् हो जायगा । फिर

१. अथर्व० १-३४-२

यह पुकार मचाने की आवश्यकता न होगी-'मृत्योर्मुक्षीय ! मृत्योर्मुक्षीय !'

सातवीं पहचान-

सातवीं पहचान है उसके अन्दर के बीजों का गूदे में खुभे न रहना; गूदे को छोड़कर अलग हो जाना ।

प्रत्येक जिज्ञासु को इस उपमा से यह उपदेश लेना होगा कि मृत्यु-बन्धन से छूटने के लिए जहां बाह्य विषय-वासनाएं उसे छोड़ जायं, वहां अन्तः-करण में पड़े हुए गुप्त और सुप्त संस्काररूप बीज भी उसे छोड़ जायं । जिस प्रकार बाह्य वासनाओं का एक भी कच्चा तार पुनर्बन्धन का कारण बन सकता है, वैसे ही अन्तः-करण में पड़े हुए संस्कार-बीज भी मृत्यु-बन्धन का कारण बन सकते हैं । इसलिए जीवन-फल को परिपक्व करने के लिए जहां बाह्य वासनाओं से छुटकारा पा लेना आवश्यक है, वहां अन्तःकरण में पड़े हुए संस्कार-बीज को निश्शेष कर देना भी आवश्यक है । इस उपमा की **सातवीं पहचान** से यह उपदेश ग्रहण कर लेना कि अन्तर्हृदय को स्वच्छ निर्दोष बना ले ।

आठवीं पहचान-

हम पांचवीं और छठी पहचान का वर्णन करते हुए खरबूज़े फल के अन्दर की एकरसता, एकरूपता का वर्णन कर आए हैं । परन्तु खरबूज़े का बाहरी रूप-रंग ठीक उससे भिन्न है । कुछ वर्ष पहले की बात है कि एक दिन अनायास मैंने खरबूज़े के ऊपर की फांकों की गणना की तो वे गिनती में दस निकलीं । सहसा ध्यान आया कि खरबूज़े को दशांगुल कहने का कारण यही प्रतीत होता है ।

खरबूज़े के ऊपर बनी दस फांकें दश अंगुल का प्रतीक है, मानो खरबूज़ा फल कहता है कि ऐ भक्त ! अपने जीवन-फल को पकाने के लिए तेरे दोनों हाथों की ये दस अंगुलियां काम आनी चाहिएं । इनकी

छाप स्पष्ट नज़र आनी चाहिए। किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा पकाये फल के उपभोग की कामनामात्र भी तेरे लिए अभिशाप है। पुण्य कोई करे और फल तू खाए, यह पुरुष के लिए उचित नहीं। तुझे तो गर्व से ये शब्द कहने चाहिएं, '**कृतं मे दक्षिणे हस्ते, जयो मे सव्य आहितः**'[१]-मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है और बाएं हाथ में सफलता। जिस फल पर मेरे पुरुषार्थरूप दस अंगुलियों की छाप पड़ेगी, उसी का स्वयं उपभोग करूंगा और अन्यों को भी कराऊंगा। उसी फल को पाकर सफल बनूंगा।

खरबूजे फल पर बनी दस फांकें जहां दस अंगुलियों का प्रतीक हैं, जहां पुरुषार्थ की छाप का प्रतीक हैं, वहां पञ्च ज्ञानेन्द्रियों और पञ्च कर्मेन्द्रियों की छाप का भी प्रतीक हैं। जीवन-फल की उपलब्धि इन्हीं इन्द्रियों के माध्यम से सम्भव है। परन्तु पुरुषोत्तम व्यक्ति वह है जो इस फल की कामना से ऊपर रहता है। पुरुष-सूक्त में ऐसे ही व्यक्ति का वर्णन करते हुए कहा है-'**अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्**[२]।'-वह पुरुष दश अंगुल का अतिक्रमण करके ठहरता है। इसी वास्तविकता के दर्शन खरबूज़े फल में भी किये जा सकते हैं। उसमें अन्तर्निहित रस और माधुर्य ऊपर के दशाङ्गुल छिलके का अतिक्रमण करके बहता है। उपासक ! इस रस का आस्वादन छिलके को पृथक् करके ही किया जाता है। देखना, तुझे भी प्रकृतिरूपी छिलके को पृथक् करना होगा, तभी तू ब्रह्मानन्द-रस का आस्वाद ले पायेगा। निस्सन्देह परम रस और परम गन्ध, प्रकृति, छिलके में ही बन्द रहती है। तेरे अन्तर्हृदय में बहनेवाला रस भी नाभि-केन्द्र से ठीक दस अंगुल अतिक्रमण करके रहता है। यदि कहीं उसका स्रोत मस्तिष्क को मान लें, तो भी वह त्रिकुटि से दशाङ्गुल ऊपर सहस्रार चक्र में रहता है।

ऐ उपासक ! तुझे मुक्त होने के लिए पकना होगा, और पकने के

---

१. अथर्व० ७।५०।८ २. ऋग्वेद १०।९०।१

लिए उक्त आठों पहचानों का अनुष्ठान भी करना होगा। यह अवश्य देखना होगा कि तेरे अन्तःकरण पर बाह्य आवरण का कोई प्रभाव तो नहीं है? मायावी प्रकृति का बहुरूपियापन तो जाता रहा है? तेरे अन्दर विराजमान अखण्डैकरस अद्वैतब्रह्म का आनन्द परिपूर्ण हो गया है? और तूने इसका प्रमाण, अपना हृदय खोलकर दे दिया है? यदि हां, तो अब सिद्धि के द्वार तक पहुंच चुका है, अब मृत्यु से छुटकारे में देर नहीं। कुछ क्षण में ही मृत्यु-बन्धन से छूटकर अमृतत्व का उपभोग करेगा, **'मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्'** की प्रार्थना सफल होगी। अहा! खरबूजे के पकने की यह आठवीं पहचान क्या सुन्दर उपदेश दे रही है!

नवीं पहचान-

वनस्पति-जगत् में वृक्षों की अपेक्षा बेलों में यह विशेषता है कि वे अपने समीपस्थ आश्रय पर फैल जाती हैं। वृक्षादि का सहारा पाकर लिपटती और चढ़ती चली जाती हैं। बेलों के हर जोड़ और फटाव पर कुछ तन्तु निकलते रहते हैं जो उनके जमाव में सहायता देते हैं। यह विशेषता खरबूज़े की बेल में भी है। जहां हर जोड़ से निकले हुए ये तन्तु जड़ जमाते हैं, वहां भोजन भी ग्रहण करते हैं। इन्हीं के कारण बेल पनपती, फूलती, फलती है।

फल के मूल में भी इसी प्रकार का एक तन्तु लगा रहता है जिसे आप खरबूज़े की मूंछ कह सकते हैं। इसका काम न पंजा जमाना है न खुराक लेना है; इसका काम फल पकने की सूचना देना है। जैसे ही फल के मूल में लगा हुआ यह तन्तु सूखा कि माली समझ गया कि फल पक गया। तरबूज़ फल, जिसकी डाल अन्तिम समय तक फल को नहीं छोड़ती, पकने की सूचना मूल में लगा हुआ यह तन्तु सूखकर ही देता है। इस प्रकार खरबूज़े फल के पकने की यही नवीं पहचान है।

प्रिय मित्र! मृत्यु की यह बेल, जिसमें हम सब खरबूज़े फल की

भांति जुड़े हुए हैं, निकट की हर वस्तु पर छा जाने के लिए है और बराबर अपना पंजा जमाने के लिए है । तू भी अपने प्रकृति-पंजे को जमाना, भोजन लेना, पानी लेना, परिपक्व होना; और जब तेरे जीवन-फल के तृष्णा-तन्तु सूखने लगें, मूंछें पकने लगें तो समझ लेना कि अब छूटने का समय निकट है । गृहस्थाश्रम से मुक्त होकर वानप्रस्थ बनने की एक पहचान यह बाल पकना भी तो है । मनु महाराज लिखते हैं-

"गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।।[१]"

वैसे देखा यह गया है कि जरा (बुढ़ापा) के साथ-साथ तृष्णा बढ़ती रहती है-'**तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णाः**[२]' की युक्ति चरितार्थ होती है । लोग झुर्रियोंवाले चेहरे को बिना झुर्री का, सफेद बालों को स्याह बालोंवाला बनाना चाहते हैं । मानो उनकी वासनाएं जवान हुआ चाहती हैं ।

ऐ साधक ! बालों के साथ-साथ तेरी वासनाएं भी पक जानी चाहिएं । जैसे बाल पककर स्वतः झड़ जाते हैं, वैसे ही ज़ब तेरी वासनाएं पककर झड़ जायंगी, तो तू मोक्ष का अधिकारी बन जायगा । इस नवीं पहचान से यही कुछ सीखना है ।

दसवीं पहचान-

खरबूज़े फल की अन्तिम और दसवीं पहचान बड़ी ही विचित्र है । यदि खरबूज़े को कच्ची अवस्था में अंगुली से इंगित (इशारा) करेंगे, तो वह सड़ जाएगा । उसे हाथ से छुआओगे, इधर-सेउधर रक्खोगे तो उसका कुछ भी न बिगड़ेगा । आश्चर्य तो उस समय होता है कि आपने अंगुली का इशारा किया नहीं कि उसने दम तोड़ा नहीं । साधक ! हम

---

१. मनुस्मृति ६.२ २. नीतिशतक

कुछ नहीं कह सकते कि अंगुली से कौन-सी विद्युत्-धारा निकलती है कि जिससे फल मुरझा जाता है, सड़ जाता है ।

प्रिय बन्धु ! सावधानी बरतना, जीवन-फल के पूर्ण परिपक्व होने तक फूंक-फूंककर कदम रखना ! कहीं कोई ऐसा कार्य न कर बैठना कि लोगों की अंगुली तेरी ओर उठने लगे ! देखना अंगुली उठी कि तेरा जीवन-फल मुरझाया ! व्यक्ति तेरी ओर अंगुली न उठाकर तेरे से हाथ मिलाने, पञ्जा बढ़ाने अथवा दोनों हाथ मिलाकर नमस्ते करने में प्रसन्नता अनुभव करें । बस अंगुली न उठवाना । साधक ! सावधान रहना ।

उर्वारुकम् इव-

उर्वारुक का अर्थ कोशकारों ने प्रायः खरबूज़ा फल अथवा उसी जाति के ककड़ी, फूट आदि फल किये हैं; अर्थात् वे सब फल, जिनमें उक्त पहचानें घटती हैं । उर्वारुकपद में तीन शब्द पड़े हैं-उरु-आ-रुक्, जिसका अर्थ है विस्तृत और परिपूर्ण अमृत । 'रुक्' का अर्थ होता है अमृत-'**अमृतत्वं वै रुक्**'[१]-'आ' का अर्थ होता है परिपूर्ण, सब ओर से, पूर्ण हो परिपूर्ण हो । 'आ' का एक अर्थ आभिमुख्य भी है जिसका अर्थ है अपनी ओर आना । खरबूज़ा फल **उरु-आ-रुक** है, अमृतत्व का प्रवाह फल की ओर बह रहा है । अमृत का स्रोत वहां है जहां बेल की जड़ें जमी हुई हैं, भूमि से रस ग्रहण करती हैं । उसका प्रवाह फल की ओर बहता रहता है जिससे फल पकता है, रस से परिपूर्ण होता है । यह सब-कुछ उस भूमि से है जहां जड़ अपना घर किये है । उसमें जैसा खाद, पानी, मिट्टी होगी, वैसा ही रस फल में आता रहेगा ।

उपासक ! तू भी सोच, तेरी इस मर्त्यबेल की जड़ें कहां जुड़ी हैं, कहां जमी हैं ? तेरे जीवन-फल को पकाने के लिए कौन-सा रस ला रही हैं ? यह माना कि यह सब रस तेरी ओर, तेरे अभिमुख (आ) बेल के

१. शत० ९।४।२।१४

माध्यम से ही प्रवाहित होगा, परन्तु वही कुछ तो होगा जो बेल की भूमिका में होगा ! और उस भूमिका में क्या-कुछ पड़ा हुआ है ? कैसा पानी है ? साथ-साथ वह उर्वरा भी है या नहीं ? इसलिए उसे उर्वरा बनाना । आओ, हम सभी उपासक इस मर्त्यबेल के माध्यम से त्र्यम्बक से जुड़ जाएं-**त्र्यम्बकं यजामहे** । उसकी संगति के बिना कल्याण नहीं ।

त्र्यम्बकं यजामहे-

'यजामहे' का अर्थ है हम संगति करें । संगतीकरण के लिए जहां कम-से-कम दो तत्त्वों का होना आवश्यक है, वहां दोनों में संगतीकरण के माध्यम का भी होना आवश्यक है । यहां वे दो व्यक्ति आत्मा और परमात्मा हैं, जीव और ब्रह्म हैं, भक्त और भगवान् हैं, उर्वारुक और त्र्यम्बक हैं । संगतीकरण का माध्यम प्रकृति है, मर्त्यबेल है । एक कोने में फूल के रूप में आत्मा, दूसरे कोने में मूल के रूप में परमात्मा (त्र्यम्बक) लगे हुए हैं । परस्पर दानादान चल रहा है । उर्वारुक अपने को त्र्यम्बक से जोड़े हुए है और त्र्यम्बक भगवान् अपने अमृतत्व का दान देकर जीवात्मा को **उरु-आ-रुक** बना रहे हैं, पका रहे हैं ।

त्र्यम्बक शब्द का अर्थ-

त्र्यम्बक पद **त्रि+ अम्ब+ क** का मिश्रण है । अन्त में लगा हुआ 'क' स्वार्थ में है । त्रि का अर्थ है तीन । अम्ब का अर्थ है लोरी । अम्ब का अर्थ समझने के लिए थोड़ा प्रयोग-शास्त्र का आश्रय लेना होगा । संस्कृत-भाषा में माता को अम्बा कहते हैं । माता को अम्बा कहने के कारण समझ लेने पर अम्ब शब्द स्पष्ट हो सकेगा । अम्बा शब्द **'अबि शब्दे'** धातु से बना है । देखना होगा कि मां कौन-सा विशेष शब्द करती है, जिससे अम्बा कहलाती है । उस शब्द की अभिव्यक्ति सन्तान के प्रति ही होनी आवश्यक है, क्योंकि माता वा अम्बा, मां वा अम्मा संज्ञा की

सार्थकता सन्तान पर आधारित है । इसलिए जब माता वात्सल्य से प्रेरित होकर पुत्र अथवा पुत्री के प्रति जो ध्वनि गुञ्जाती है उसका नाम अम्ब है, और उस ध्वनिविशेष को करने के कारण मां का नाम अम्बा है । लौकिक भाषा में इस ध्वनि को ही लोरी कहते हैं । लोरी देते हुए जहां पाणि = हाथ से थपथपाया जाता है, वहां वाणी से कुछ गुनगुनाया भी जाता है । वह गुनगुनाहट सर्वत्र एकरूप ही होती-**अम्रूप, उम्रूप या ओम्रूप** । लोरीदाता के मुख से गुनगुनाते हुए जो ध्वनियां उठती हैं, वे सहज गिनती में तीन हैं-ध्वनि का मूल, ध्वनि का मध्य, ध्वनि का अन्त । सहज इसलिए कि लोरीदाता को गुनगुनाते हुए अपने ओष्ठों को सर्वथा खोलना और कुछ बन्द करना होता है । ये तीन प्रक्रियाएं ही अकार, उकार, मकार-रूप संगति को पैदा करती हैं । शास्त्रकारों ने इसे ही **उद्गीथ** कहा है । उद्गीथ में वे तीन ध्वनियां सम्मिलित हैं जो सार्वभौम और सार्वत्रिक हैं । नवजात शिशु को इन भाषा-भेदों का परिज्ञान कहां ? वह इन विवादों से दूर है, ऊपर है । इसलिए सार्वभौम और सार्वजनिक भाषा को समझता है और इस ध्वनि के कान में पड़ते ही चुप हो जाता है । फिर चाहे वह मां मुस्लिम हो, अथवा हिन्दू हो, देशीय हो अथवा विदेशीय, कोई भी क्यों न हो, लोरी देते समय यही ध्वनि निकलेगी और बच्चा भी इसी ध्वनि पर चुप होगा । जहां **अंऽऽऽ या ऊं ऽऽऽ या ओं ऽऽऽ** कहा कि बच्चा चुप हो गया । इस प्रक्रिया से यही तो होता है कि किसी एक-न-एक स्वर पर अनुस्वार रखकर गुनगुनाने लगना । इसलिए अम्बा शब्द का अर्थ हुआ वात्सल्यरस को प्रवाहित करनेवाले शब्दविशेष (लोरी) को करनेवाली-**अम्बति वात्सल्यनिष्यन्दिनं शब्दविशेषं करोतीति अम्बा** । और मां के मुख से लालन-स्वापन (सुलाने) के लिए वात्सल्य रस को प्रवाहित करनेवाले शब्द-विशेष का नाम हुआ **अम्ब**। **मातृमुखादुच्चार्यमाणा लालनप्रस्वापनादिप्रयोजकाः वात्सल्यनिष्यन्दिनः शब्दविशेषा**

अम्बका:[१] । और इन अकार, उकार, मकार-रूप तीन अक्षरों से युक्त नाम है जिसका, वे हुए स्वयं त्र्यम्बक भगवान्-"**त्रयो अकारोकारमकाररूपा: अम्बका: अभिधानरूपिणो यस्य स त्र्यम्बक: तं त्र्यम्बकं यजामहे।**"

जातकर्म संस्कार में नवजात शिशु की जिह्वा पर अकार, उकार और मकार, तीन अक्षरों को स्वर्ण की शलाका से घृत और मधु मिलाकर लिखे जाने का विधान है। इसका उद्देश्य बालक की वाणी में ओंकार के उच्चारण की भावना बैठाना है। परन्तु यह तभी हो सकता है कि जब उसके कानों में यह ध्वनि निरन्तर पड़ती रहे। इसलिए परमात्मा ने माता की वाणी में लोरी के मिष से उसी ध्वनि को निहित कर दिया है। वह अ, उ, म् की लोरी देती रहे और बच्चा बोलने के समय अ-उ-म् बोलता रहे। जो कोई भी इस त्रिविध लोरी को देगा वह त्र्यम्बक कहलायेगा। फिर चाहे वह मां हो, पिता हो, आचार्य हो, न्यायाधीश हो अथवा सेनापति हो, त्र्यम्बक शब्द को सार्थक करेगा। परमात्मा तो सार्वत्रिक सार्वकालिक अम्बा है। उसकी लोरी सर्वदा मिलती ही रहती है, इसलिए उसका नाम त्र्यम्बक है। मां त्र्यम्बक है, पिता त्र्यम्बक है, आचार्य त्र्यम्बक है। अभी-अभी मृत्यु-बेल से जुड़ा नवजात शिशु नया फल है, उसे इन तीनों व्यक्तियों को लोरी मिलती रही तो निश्चय जानो कि इस नवजात फल का परिपाक ठीक होगा और "**मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्**" की प्रार्थना सफल होगी। यह हुआ यजुर्वेद के तृतीय अध्याय के ६०वें मन्त्र का आधा भाग। यह प्रार्थना भक्त की भगवान् के प्रति थी। अब उसने निस्सन्देह मृत्यु को जीत लिया। मृत्यु का बन्धन तो इसलिए था कि फल पक जाए। पकने के बाद मृत्यु-बन्धन में रहना अनावश्यक है, इसी का नाम है

---

१. **अकारोकारमकाराणां मात्राणामपि वाचका: ॥ तथा सोमस्य सूर्यस्य वह्नेरग्नित्रयस्य च। अम्बा उमामहादेवौ ह्यम्बकस्तु त्रिअम्बक: ॥**

लिंगपुराण ३५.१९-२० ॥

मृत्यु-विजय। सम्भवतः इस मन्त्र का नाम इसलिए मृत्युञ्जय पड़ गया कि कोई भी उपासक इस मन्त्र को जपते हुए इसके एक-एक शब्द को हृदयङ्गम करते हुए इसकी भावनाओं को अपने जीवन में उतार लेगा, तो निःसन्देह मृत्यु को जीत लेगा, मृत्युपापश में जल्दी-जल्दी न आयेगा; एक लम्बे अरसे के बाद, छत्तीस हज़ार बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के उपरान्त ही पुनः मृत्यु-बन्धन में आयेगा; पुनर्जन्म के चक्कर से हटकर इतने लम्बे समय तक अमृतत्व का उपभोग करता रहेगा। ब्रह्मलोक से लौट आयेगा, परन्तु ब्रह्मलोक = ब्रह्म-दर्शन से नहीं। इस बात की संगति मन्त्र के द्वितीय अर्धभाग को समझने से ही हो सकती है।

मन्त्र के उत्तरार्ध में एक कन्या की प्रार्थना है। वह कह रही है-'**त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनं उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः।**' भक्त की तरह कन्या भी छुटकारे के लिए प्रार्थना कर रही है-'इतो मुक्षीय मामुतः! इतो मुक्षीय मामुतः! इधर से छुड़ा दो, उधर से नहीं। इधर क्या है? उधर क्या है? यह पाठक को समझने में कठिनाई न होगी। इधर का अभिप्राय पितृकुल से है और उधर का अभिप्राय पतिकुल से है। कन्या कहती है कि मुझे तीन-तीन अर्थात् अकार-उकार-मकार तीन ध्वनिरूप, भूः-भुवः-स्वः तीन महाव्याहृतिरूप तथा ऋगादिवेदत्रयीरूप लोरियां देकर पकानेवाले मेरे आचार्य मुझे पितृकुल से छुड़ा दो, लेकिन पतिकुल से नहीं, मेरा सौभाग्य इसी में है। ऐसा न हो कि मैं पति से वियुक्त हो जाऊं। मन्त्रगत 'पतिवेदन' शब्द का अर्थ है पति का लाभ करानेवाला। इसलिए हमने इस मन्त्र की संगति पतिवेदन शब्द के आधार पर कन्या के द्वारा की गई प्रार्थना में विनियुक्त की है, और इस बात की पुष्टि विवाहसंस्कार की केशमुञ्चन-विधि से होती है।

एकान्त में वर नववधू के केशों को खोलता है और बाहकर, संवारकर पुनः हाथों से बांधता है। उस समय वाक्य पढ़ता है-'इतो

मुञ्चामि नामुतः'-मैं तुझे इधर से छुड़ाता हूं और अपने साथ बांधता हूं। वहां भी पाठक देखेगा कि बन्धन का आधार केश हुए हैं। जो कन्या अब तक पितृ-कुल से बंधी हुई थी, उसे उधर से छुड़ाकर अपने साथ बांध लेता है। ठीक जिस प्रकार भक्त यहां से मुक्त होकर वहां बंधने में अपना श्रेयस् समझता है, उसी प्रकार कन्या भी पितृ-गृह को छोड़कर पति के साथ युक्त होने में अभ्युदय मानती है, इसलिए उसकी प्रार्थना में भी भक्त की-सी विह्वलता है-'**इतो मुक्षीय मामुतः !**'

कुमारी कन्या की इस विह्वलता को देख मानो आचार्य कह रहा हो कि पितृ-कुल अथवा गुरुकुल का बन्धन तेरे लिए हानिकारक नहीं है। समय की प्रतीक्षा करो, परिपक्व हो जाओ। यह बन्धन सहज हट जाएगा, ठीक उसी प्रकार कि जिस प्रकार खरबूज़ा पकने पर छूट जाता है। पितृ-कुल का बन्धन तेरे परिपाक के लिए है।

यहां पाठक कुछ ध्यानावस्थित होकर परिपाक की उन तमाम शर्तों को सामने ला सकते हैं और समझ सकते हैं कि कन्या पक गई वा नहीं। उन्हें उसमें देखना होगा कि पितृ-कुल के प्रति आसक्ति का कोई भाव तो नहीं ? उसने अपने गुणों की गन्ध फैलानी आरम्भ की वा नहीं ? समीप आनेवाले व्यक्ति पर अपनी शालीनता का रंग छोड़ा वा नहीं ? वह किसी के प्रति अपना हृदय खोल भी सकती है वा नहीं ? अपने हृदय में भरे हुए स्नेहरस को पान करा सकती है वा नहीं ? अधिक क्या लिखा जाय ! इस मन्त्र का भाष्य तो कोई कन्या-हृदय ही कर सकता है, पुरुष-हृदय क्या जाने !

इस उपमा से उपासक अधोलिखित उपदेश ले सकता है। उसके हृदय में प्रभु के प्रति वही उत्साह और उमंग होनी चाहिए जो नववधू के हृदय में श्वसुर-गृह जाते हुए पति के लिए होती है। पितृ-गृह से चलते हुए उसकी आंखें स्नेहाश्रुओं से अवश्य भरी होती हैं, परन्तु

हृदय-अन्तराल में नई उमंग, नया उत्साह, नया विश्वास संजोए जाती है। वह जानती है कि मेरा असली घर वह है जहां मैं जा रही हूं। वह उस गृह की गृहिणी होगी। वहां सब-कुछ अपने हाथ से निर्माण करना होगा, संजोना और संवारना होगा। उसमें ममत्व और अपनत्व होगा। बस, यही स्थिति भक्त की मोक्षधाम जाने के लिए होनी चाहिए। वहीं अमरधाम, वहीं मुक्ति, वहीं आनन्द, वहीं उसका अपना घर। इसका यह तो अभिप्राय कभी नहीं कि भक्त वहां से लौटेगा ही नहीं। लौटेगा, अवश्य लौटेगा। परन्तु उसी प्रकार जिस प्रकार कोई कन्या पति-कुल से पितृ-कुल को लौटती है। मुमुक्षु भी मुक्ति से लौट जायगा, परन्तु ब्रह्मलोक से नहीं। मुक्ति तो उसके कर्मों का फल है, उसकी अवधि है। वह परमात्मा के आधीन है, परन्तु ब्रह्मचिन्तन तो उसके अधिकार में है। न उससे कोई रोक सकता है, न वंचित ही कर सकता है। ठीक उसी प्रकार कि जिस प्रकार पति-कुल से आई हुई कन्या को पति-चिन्तन से न कोई रोक ही सकता है न वंचित ही कर सकता है। कबीर के शब्दों में मुक्त व्यक्ति संसार में आकर-

ज्यों तिरिया पीहर बसे, सुरत रखे पिय मांहि।
ऐसे हीं जन जग में रहे, हरि को भूले नांहि॥

त्र्यम्बक 'रुद्र' का वाचक कैसे ?-

महामृत्युञ्जय मन्त्र की व्याख्या हो चुकी। मन्त्र के प्रत्येक पार्श्व पर विचार हो लिया। खूब ऊहापोह हो ली। परन्तु दो बातें अब भी रह गई। एक तो यह कि इस मन्त्र का देवता रुद्र है, जिसका वाचक मन्त्रगत शब्द त्र्यम्बक है। त्र्यम्बक शब्द की जब तक रुद्रपरक व्याख्या नहीं होती, तब तक यह व्याख्या अपूर्ण ही समझी जाएगी। हमने अपनी व्याख्या में त्र्यम्बक शब्द के अर्थ-वात्सल्य रस को प्रवाहित करनेवाले अकार,

उकार और मकार-रूप त्रिविध लोरियों को देनेवाले ब्रह्म, आचार्य, न्यायाधीश अथवा पिता किये हैं। हमारे अर्थ में वात्सल्य रस की प्रधानता है। त्र्यम्बक शब्द में पड़ा हुआ अम्ब शब्द उसका आधार है। यह सब-कुछ होते हुए भी त्र्यम्बक शब्द रुद्र का वाचक कैसे है? यह चिन्तनीय अवश्य है, क्योंकि रुद्र शब्द में रुलाने का भाव है। रुद्र संज्ञा में कहीं भी सौम्यता नहीं दीखती। अतः त्र्यम्बक शब्द रुद्र का कैसे वाचक है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है।

दूसरी आवश्यक बात यह है कि मन्त्रगत 'सुगन्धि पुष्टि-वर्धनम्' विशेषण किसके हैं? इनका विशेष्य त्र्यम्बक है अथवा उर्वारुक? इसपर भी हम यथावसर प्रकाश डालेंगे, सर्वप्रथम त्र्यम्बक शब्द रुद्र का वाचक कैसे है, यह विचार करते हैं।

त्र्यम्बक का स्थानापन्न अर्यमन्

हम आरम्भ में ही लिख चुके हैं कि यही मन्त्र अथर्ववेद में कुछ शब्दों के परिवर्तन से आया है। वहां त्र्यम्बक पद के स्थान पर अर्यमन् शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्यमन् शब्द की सहायता से त्र्यम्बक शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण सम्भव है। अर्यमा का अर्थ न्यायकारी है। न्यायकारी सामान्य व्यक्तियों से ऊपर उठा हुआ होता है। सामान्य व्यक्ति जहां तक देखता है, न्यायकारी उससे कहीं आगे तक की देखता है। सामान्य व्यक्ति इन चर्म-चक्षुओं से देखता है, जब कि न्यायकारी अन्तर्दृष्टि से, जिसे हम उसका तृतीय नेत्र कह सकते हैं। त्रिनेत्र होने के कारण न्यायाधीश और रुद्र 'त्र्यम्बक' कहाते हैं। अर्यमा अर्थात् न्यायाधीश, रुद्र अर्थात् सेनापति, तृतीय नेत्र खोलकर ही पापात्मा को मृत्यु और पुण्यात्मा को अमृतत्व प्रदान करते हैं। उसके तृतीय नेत्र की जहां एक कोर आग्नेय है, वहां दूसरी कोर सौम्य है। न्यायाधीश अपना निर्णय देते हुए पापात्मा को मृत्यु, पुण्यात्मा को अमृत, पापात्मा को

अन्धकारयुक्त कोठरी में डालता है और पुण्यात्मा को प्रकाश-युक्त लोक प्रदान करता है, पापात्मा के पक्ष को असत् और पुण्यात्मा के पक्ष को सत् घोषित करता है ।

त्र्यम्बक शब्द आचार्य का वाचक

जैसे न्यायाधीश के दो कर्तव्य 'आग्नेय' और 'सौम्य' हैं, कठोर और मृदु हैं, वैसे ही आचार्य के भी दो कर्तव्य हैं । अत: त्र्यम्बक शब्द की व्याख्या करते हुए हमने आचार्य अर्थ भी किया है । **त्र्यम्बकं यजामहे**[1] का विनियोग ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारिणी की अर्यमा (न्यायाधीश) के प्रति की गई प्रार्थना में किया है । दोनों ही अपने-अपने शिक्षणालयों (गुरुकुलों) में रहते हुए राष्ट्र के न्यायाधीश से प्रार्थना करते हैं 'मृत्योः मुक्षीय मामृतात्' कि हमें मृत्यु (आचार्यो मृत्युः वरुण[2]...) से छुड़ा दो, परन्तु आचार्य के अमृतत्व से नहीं । आचार्य के भी मृत्यु और अमृत दो रूप होते हैं-एक वज्र से भी कठोर और दूसरा कुसुम से भी मृदु । आचार्य के पांच नामों में से मृत्यु और वरुण वज्र से भी कठोर, शेष उसके तीन नाम सोम, ओषधय:, पय:, कुसुम से भी मृदु हैं । एक का रौद्र रूप है, तो दूसरे का सौम्य रूप । किन्हीं विद्यार्थियों को मृत्यु और वरुण रूप दिखाकर पाशबद्ध करता है और किन्हीं को सोम, ओषधि और पय:-रूप तीन वात्सल्य-धाराओं से आप्यायित करता है । इन्हीं का विस्तार ऋक्-यजु-साम, ज्ञान-कर्म-उपासना, भूः-भुवः-स्वः, अकार-उकार-मकाररूप त्रिविध रस, मानो त्र्यम्बक परमात्मा की तीन लोरियां हैं ।

रुद्र का सौम्य रूप-

त्र्यम्बक शब्द से अभिप्रेत ब्रह्म, आचार्य, न्यायाधीश अथवा सेनापति सभी का जहां रुद्र रूप है, वहां इनका एक सौम्य रूप भी है । ये सभी अपना प्रभाव मृत्यु और अमृत दो रूपों में प्रकट करते हैं ।

---

१. यजुर्वेद ३ । ६०   २. अथर्ववेद ११ । ५ । १४

ब्रह्मचारी को जहां आचार्य अपने मृत्यु-पाश से बांधता है, वहां उसके लिए सोम, ओषधि, पयः का प्रबन्ध भी करता है। यही उसका अमृतरूप है। सोम का अर्थ है ज्ञान-वृद्धि के उपाय, ओषधि का अर्थ है स्वास्थ्यरक्षा के उपाय, पयः का अर्थ है जीवन-रक्षा के उपाय, भोजन-व्यवस्था। रुद्र भी, सेनापति भी, शत्रु-सैनिकों को जहां मृत्यु के घाट उतारता है, वहां शरणागत शत्रु के लिए सोम, ओषधि और पयः का भी प्रबन्ध करता है[१]। परमात्मा भी पापात्मा-से-पापात्मा को हीन योनिरूप मृत्यु-पाश में बांधकर उनके लिए सोम, ओषधि, पयः (योगक्षेम) का प्रबन्ध करता है। यह कठोर और मृदु, आग्नेय और सौम्य रूपों का समन्वय है जो त्र्यम्बक के स्थानापन्न अर्यमा (और आचार्य) शब्द की व्याख्या से स्पष्ट हो सका।

त्र्यम्बक शब्द के स्थानापन्न अर्यमा उसके वाचक आचार्य शब्द की सहायता से पर्याप्त मार्ग प्रशस्त हुआ और रुद्र शब्द की व्याख्या होने की सम्भावना हुई। कठिनाई तब होती है जब पाठक के मस्तिष्क में किन्हीं शब्दों के रूढ़ार्थ घर किये होते हैं। उन्हें हटाना अत्यन्तु दुष्कर होता है। इसी रुद्र शब्द को ले लें। पौराणिक जगत् की तो मान्यता सर्वथा विचित्र ही है। उनके सामने रुद्र शब्द आया कि उन्हें एक देव

१. वेद में रुद्र की तीन बहनों का वर्णन है-अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका। अम्बा का काम लोरी के साथ सान्त्वना देना है, अम्बिका का काम लोरी के साथ-साथ ओषधि देना है, अम्बालिका का काम लोरी के साथ-साथ दूध पिलाना है। जिसे आजकल एम्बुलैंस विभाग कहते हैं। जहां सेनापति के आदेश पर सैनिक शत्रुओं पर वज्र-प्रहार करते हैं वहां अम्बिका-(एम्बुलैंस)-विभाग शत्रुओं के हताहत व्यक्तियों के लिए सोम, ओषधि और पय का प्रबन्ध करता है। यही तो रुद्र के दो हाथ हैं। एक में वज्र है और दूसरे में ओषधि। ऋग्वेद १।११४।५ **हस्ते बिभ्रद् भेपजा वार्याणि** और ऋ० ८।२९।५ **तिग्ममेको बिभर्ति हस्त आयुधं शुचिरुग्रो जलाषभेपजः** में यही उसके दो रूप हैं।

विशेष नज़र आने लगा जिसके हाथ में त्रिशूल है, शरीर में भस्म रमा है, श्मशान में उसका डेरा है, गले में खोपड़ियों की माला पहने हुए है, उसकी भुजाओं पर सांप लिपटे हुए हैं, माथे पर चन्द्र और गङ्गा विराजमान है, सवारी के लिए नन्दी तैयार रहता है, इत्यादि। आर्यसामाजिक व्यक्ति के लिए रुद्र का अर्थ रुलानेवाला, अत्यन्त कठोर व्यक्ति है, जिसका काम दुष्टों का संहार करना और दुष्टों को रुलाना है।

इस पर हमारा इतना ही निवेदन है कि रुद्र रुलाता तो है, परन्तु आवश्यक नहीं कि मार-पीटकर ही रुलाता है। मार के ही आंसू नहीं होते, प्यार के भी आंसू होते हैं जिन्हें स्नेहाश्रु कहते हैं। यह ठीक है कि रुद्र-सेनापति शत्रुओं को रुलाता है, किन्तु वह जहां शत्रुओं को मारकर रुलाता है, वहां मित्रों की रक्षा, आर्तत्राण कर स्नेहाश्रु से रुलाता है। हां, 'रुलाना'-धर्म रुद्र का आवश्यक है, परन्तु इससे यह कभी नहीं समझना चाहिए कि वह क्रूर ही है, कठोर ही है। नहीं-नहीं, वह मृदु भी है।

महामृत्युञ्जय मन्त्र के देवता रुद्र का रूप तो सौम्य ही अधिक है; उसका उग्र रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रार्थी चाहे मुमुक्षु हो, कुमार ब्रह्मचारी हो अथवा कुमारी ब्रह्मचारिणी हो, उनकी प्रार्थना से तो यही प्रकट होता है कि उनका देवता रुद्र इतना सौम्य है कि उसके कार्य को देखकर स्नेहाश्रु उमड़ने लगते हैं। जब मुमुक्षु सांसारिक बन्धनों से अलग होकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए तैयार होता है, उस समय सभी बन्धु-बान्धवों, रिश्तेदारों का अश्रु-विमोचन होने लगता है। सबके अश्रु निकलते देख मुमुक्षु की आंखें भी डबडबा आती हैं तो क्या यहां अश्रुविमोचन किसी मार के कारण है? कदापि नहीं, स्नेह के कारण है। वे अश्रु स्नेहाश्रु हैं।

इसी प्रकार कुमार ब्रह्मचारी मृत्यु-आचार्य से मुक्त होने और उनके द्वारा दिये ज्ञानामृत से युक्त रहने की प्रार्थना करता है। ब्रह्मचारी जब नवस्नातक होकर जाने लगता है तो उस विदाई-बेला में आचार्य

और शिष्य की आंखें डबडबा आती हैं। इसपर आप क्या कहेंगे कि ये आंसू मार के कारण हैं ? नहीं, कदापि नहीं। दुलार के कारण, स्नेह के कारण।

इसी प्रकार कुमारी ब्रह्मचारिणी पितृ-कुल अथवा गुरुकुल से मुक्त होने के लिए रुद्र देवता से कहती है कि 'इतो मुक्षीय मामुतः'। जैसे ही उसकी इस प्रार्थना पर आचरण होने लगा कि दोनों ओर से आंसू उमड़ पड़े, आंसुओं की झड़ी लग गई, अश्रु-विमोचन होने लगा। इस अवस्था को देखकर कठोर हृदय भी पिघल गए तो क्या आप मानेंगे कि यहां रुद्र का उग्ररूप है ? नहीं, कदापि नहीं। निस्सन्देह उसे अपना निर्णय देने के लिए हृदय अवश्य कठोर करना पड़ा था, क्योंकि यह निर्णय कि अब कुमार का ब्रह्मचर्य-काल बीत चुका है, विद्याध्ययन समाप्त हो चुका है, अतः उसे आचार्यकुल छोड़ देना होगा। जो वर्षों साथ रहे थे उनके परस्पर वियोग होने का समय आ गया है, जो आचार्य और शिष्य को रुला रहा है। इस वियोगवेला में जो स्नेहाश्रु छूटेंगे, उन्हें देखकर क्या कोई कह सकता है कि ये मार के आंसू हैं ? नहीं, कदापि नहीं। जिन आंसुओं के आने पर आह्लाद होता हो, प्रसन्नता होती हो, वे मार के ही कयों न हों, उनमें भी प्यार भरा होता है।

महर्षि दयानन्द महाराज अपनी कोहनी पर लगी मार को देखकर स्नेहाश्रु भर लाते थे। उनकी डबडबाई आंखों को देखकर जब भक्तजन पूछते कि यह क्या ? आपकी आंखें कैसे छलक आई ? तो महाराज एक ही उत्तर देते कि 'गुरु जी की याद आ गई। उस मार में भी कितना प्यार भरा था ? अपने कमजोर हाथों से जब गुरुजी मेरे वज्र-जैसे शरीर पर मार मार रहे थे तो मैंने यह जानकर कि कहीं गुरुजी के हाथ दुखने न लगें, दण्ड पकड़ा दिया था और उन्होंने उसी से मारा था, यह उसी का चिह्न है। मैं याद करता हूं और आंसू उमड़ आते हैं कि गुरुजी की मार से मैं

कहां-से-कहां पहुंच गया ! यह उसी मार का परिणाम है जिसने मुझे दयानन्द बना दिया ।' अहा ! उस मार में भी क्या रस होगा कि जिसे पाने के लिए शिष्य लालायित रहता था ! **'अहो ! लोकोत्तरः सङ्गमः !'**

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥'[१]

क्या इन मार के आंसुओं में रुद्र का क्रूर रूप है ? कदापि नहीं । यह तो कल्याणरूप है, शिवरूप है-**"सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः"** ।

वास्तव में रुदिर् धातु का अर्थ अश्रुविमोचन है । रुद्र वह है जो अश्रुविमोचन कराता है-पापी को मार से, और पुण्यात्मा को प्यार से । इस द्यावापृथिवी को रोदसी कहते हैं; वही 'रुदिर् अश्रु विमोचने' धातु है जिससे रुद्र शब्द बना है । तो क्या द्यावा-पृथिवी एक-दूसरे को मारते हैं जो रोने लगते हैं और रोदसी नाम को सार्थक करते हैं ? नहीं, कदापि नहीं । वे रोते हैं एक-दूसरे के वियोग में । मध्य में अन्तरिक्ष का इतना बड़ा अन्तर है जो इनके लिए असह्य है, बाधक है, इसलिए द्यावापृथिवी अश्रु-विमोचन करने लगते हैं । पृथिवी को संतप्त देखकर द्युलोक वर्षारूप अश्रु-विमोचन करने लगता है, और रात्रि में सूर्य के दर्शन न होने पर खिन्न पृथिवी प्रातःकाल पत्र-पुष्प पर, लता-गुल्म पर, तृण-पल्लव पर, ओस के आंसू भरकर रोती है, मानो पति-वियोग असह्य है । इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि रुदिर् धातु का अर्थ अश्रु-विमोचन है । वह मार से हो या प्यार से, परन्तु उन आंसुओं के आने से आह्लाद और प्रसन्नता होती है । ऐसा रुलानेवाला देवता रुद्र है, त्र्यम्बक है; आचार्य रुद्र है, न्यायाधीश रुद है, सेनापति रुद्र है, स्वयं परमात्मा भी रुद्र है ।

---

१. उत्तररामचरित २.७

सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्-

मन्त्र का विवेचन करते हुए मन्त्रगत त्र्यम्बक और उर्वारुक शब्द की व्याख्या हो चुकी, अब रह जाते हैं विशेषण "सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्" । हम पीछे लिख आए हैं कि इनपर यथावसर प्रकाश डालेंगे । हमने मन्त्रार्थ करते समय इन दोनों विशेषणों का विशेष्य उर्वारुक को माना है । वास्तव में ये दोनों विशेषण देहली-दीप-न्याय से त्र्यम्बक और उर्वारुक दोनों के ही हैं-त्र्यम्बक के नित्य विशेषण हैं, उर्वारुक के नैमित्तिक । खरबूजा फल पकने पर ही सुगन्धियुक्त और पुष्टिकारक होता है, उससे पहले नहीं । त्र्यम्बक के सुगन्धियुक्त होने का यह अर्थ है कि जिस प्रकार पुष्पों में गन्ध अत्यन्त सूक्ष्म होकर विद्यमान है, उसी प्रकार परमात्मा प्रकृति के अणु-अणु में व्यापक होकर विद्यमान है । ऐसा न समझ लें कि वह गन्ध-गुणयुक्त है, और उसे नाक से सूंघा जा सकता है । पुराणकार का भी यही मत है कि वह **"पुष्पेषु गन्धवत् सूक्ष्मः सुगन्धिः परमेश्वरः**[१]" पुष्टिवर्धनः का भी अर्थ यही है कि सर्वत्र व्यापक होकर प्रकृति के अणु-अणु को संयुक्त रखकर पुष्टि देता है, पुष्टि का वर्धयिता है ।

यदि मन्त्र को सामान्यतः देखें तो **'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्'** में 'यजामहे' क्रिया पर वाक्य समाप्त हो गया, फिर **सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्** दोनों विशेषणों का सम्बन्ध किससे मानें ? फिर मन्त्र-चरण यहीं समापत हो गया और उर्वारुक शब्द के साथ भी नहीं जोड़ा जा सकता । अतः हम यही मानकर चले हैं कि देहली-दीप-न्याय से ये दोनों विशेषण आगे-पीछे पड़े हुए त्र्यम्बक और उर्वारुकम् दोनों के ही विशेषण हैं ।

---

१. लिङ्गपुराण ३५ । ११

मृत्यु से युद्ध-

आर्य स्वभावतः योद्धा है । वह जीवन के अन्तिम क्षण तक युद्धरत रहता है । उसका सतत युद्ध-सत्र मृत्यु के विरुद्ध होता है । आर्य मृत्यु के चरण को धकेलकर ही दम लेता है । उसे यह सर्वथा असह्य है कि मृत्यु उसके घर झांकी मारकर देखे, अतः उसने अपने प्रवेश द्वार पर लिख रखा है-'हे मृत्यो ! बिना आज्ञा प्रवेश निषिद्ध है **नो एडमिशन विदाउट् परमिशन** ।' उसने मृत्यु की राह में पर्वत खड़ा कर दिया है जिसे लांघना मृत्यु के लिए असम्भव है । उसने निश्चय किया है कि मृत्यु को मारकर ही दम लूंगा, मृत्यु पर विजय प्राप्त करूंगा । कम-से-कम सौ वर्ष से पूर्व तो उसे अपने निकट फटकने न दूंगा । आयुष्मान् और आयुष्कर्ता व्यक्तियों की भांति जीऊंगा, मरने की बात भी न सोचूंगा[१] । इसके लिए मुझे जो भी साधना करनी होगी, करूंगा । मैंने वेद में पढ़ा है कि देवों ने ब्रह्मचर्यरूप तप से मृत्यु को मार डाला था[२] । बस, मैंने भी निश्चय कर लिया है कि ब्रह्मचर्य-साधना करूंगा और मृत्यु को मारकर ही दू लूंगा ।

मृत्यु-हनन या मृत्यु-विजय-

मनुष्य-जीवन का लक्ष्य अमृत-प्राप्ति है । अमृत-प्राप्ति में जो समय अभीष्ट है उसी का नाम आयु है । वेदों में यह अवधि सौ वर्ष आंकी गई है । आर्य दैनिक संध्या में इसी का उद्घोष **"जीवेम शरदः शतम्"** कहकर करता है । अमृत-उपलब्धि तक मृत्यु को समीप न आने देना मृत्यु-विजय है । यदि कदाचित् मृत्यु पहले आये तो उसको मार गिराना कर्तव्य है, अन्यथा लक्ष्य-पूर्ति से पहले ही जीवन-तन्तु को उच्छिन्न कर डालेगा ।

---

१. जीव्यासम् सर्वमायुर्जीव्यासम्

२. आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणे न जीव मा मृथा ।

३. अथर्व० ११।५।१९

जिस मन्त्र की हमने व्याख्या की है उसका नाम ही मृत्युञ्जय-मन्त्र है। उसमें मृत्यु को जीतने का उपाय वर्णित है। उसमें यह उत्तमतया समझा दिया है कि जीवन-फल को पकाने के लिए ब्रह्म को आहार बनाना होगा। प्रकृति-बेल माध्यम है। इसको ही मर्त्य-बेल कहते हैं। मृत्यु द्वारा निर्मित मर्त्य-बेल मृत्यु द्वारा ही छीनी जाएगी। मृत्यु इस पर अपना अधिकार समझती है। ब्रह्म और जीव दोनों अमर हैं; मर्त्य-बेल मर है।

यदि प्राण-तन्तु बीच में ही उच्छिन्न हो जाय तो जीवन-फल का पकना असम्भव है, और इस प्राण-तन्तु को उच्छिन्न करने-वाली मृत्यु ही है। अतः समय से पूर्व मृत्यु को समीप न आने देना मृत्यु-विजय है। सौ वर्ष जीना ही अमृतत्व पा लेना है। इसका अभिप्राय यही है कि सौ वर्ष की अवधि ऐसी है जिससे अमृतत्व की उपलब्धि की जा सकती है। **एतद् वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत् सर्वमायुरेति। य एष शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति स हैवैतद् अमृतमाप्नोति।**[1]

प्रकृति-बेल त्र्यम्बक भगवान् से रस ग्रहण करके उर्वारक तक पहुंचाती रहती है। डाल से लगा हुआ फल भूमि से रस ग्रहण कर परिपक्व होता रहता है। अन्दर से रस ग्रहण करना प्रत्याहार है। आहार से विपरीत आहार है। ब्रह्मचर्य है। मृत्यु-विजय का यही एकमात्र उपाय है।

प्रति + आहार और ब्रह्म + चर्य-

प्रत्याहार और ब्रह्मचर्य, दोनों शब्द एकार्थक प्रतीत होते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में आहार, निराहार, संहार और प्रत्याहार शब्द अति प्रसिद्ध हैं। इन चारों शब्दों का सामान्य अर्थ क्रमशः खाना, भूखे रहना,

---

१. शतपथ० ९।५।१।१०

मारना और लौटाना होते हैं; परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में आहार शब्द का अर्थ है विषयों को ग्रहण करना। निराहार शब्द का अर्थ है, विषय-निवृत्ति। **'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः'**[१] में निराहार शब्द का अर्थ भूखा रहना न होकर रूप, रस, गन्ध इत्यादि विषयों से निवृत्ति ही है। विषयों से निवृत्त होने के लिए इन्द्रियों को संहृत करना, लौटाना आवश्यक है। **'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः, इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः' तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'**[२] में संहार शब्द का अर्थ यही है। इन्द्रियों का निराहार और संहार करना ही पर्याप्त नहीं है, जब तक उनका प्रत्याहार न हो। इन्द्रियों को निराहार =(आहार-वर्जित) करने के लिए प्रति + आहार करना आवश्यक है। इन्द्रियां विषयचारी न हों, इसके लिए ब्रह्मचारी होना आवश्यक है। अतः प्रति-आहार और ब्रह्मचर्य पर्यायवाची हैं।

मृत्युञ्जय मन्त्र और ब्रह्मचर्य-

मृत्युञ्जय मन्त्र द्वारा ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान इस प्रकार करना चाहिए। सर्वप्रथम मुमुक्षु यह देखे कि उर्वारुक फल कहां से आहार लेता है? उसको पता चलेगा कि त्र्यम्बक से (ब्रह्म से)। बाहिर से नहीं, अन्दर से। बस, यही उसका प्रत्याहार है, ब्रह्मचर्य है। आहार और चर दोनों का अर्थ भक्षण होता है। इस मन्त्र में उर्वारुक ब्रह्म को आहार बनाकर ही परिपक्व होता है। मुमुक्षु समझे कि जीवन-फल के पूर्ण परिपक्व होने तक ब्रह्म से रस लेता रहे। ब्रह्म को चरे, प्रत्याहार करे।

सौ वर्ष जीने का उपाय-

अमृत-प्राप्ति के लिए कम-से-कम सौ वर्ष जीना चाहिए, और जो सौ वर्ष तक जीना चाहे उसे मृत्यु को जीतना होगा, और जो मृत्यु को

---

१. गीता २।५९ २. गीता २।५९

जीतना चाहे उसे ब्रह्मचारी रहना होगा, और जिसे ब्रह्मचारी रहना हो उसे ब्रह्म को चरना प्रति-आहार = प्रत्याहार करना होगा, जिसे ब्रह्म को चरना है उसे ब्रह्म की भूख पैदा करनी होगी, जिसे ब्रह्म की भूख पैदा करनी है उसे भूख की स्थिति को, भूख के स्वरूप को, समझना होगा।

भूख का स्वरूप-

वस्तु की स्वाभाविक याद का नाम, अनायास याद का नाम भूख है। व्यक्ति जिस वस्तु का नाम पुनः-पुनः पुकारे। प्रायः देखा गया है कि भूखा व्यक्ति पुनः-पुनः रोटी-ही-रोटी चिल्लाता है। प्यासा व्यक्ति पानी-ही-पानी की पुकार मचाता है, यहां-वहां पानी की तलाश में भटकता फिरता है। ठीक इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति प्रभु-प्रभु की पुकार मचाए तो समझना चाहिए कि उसे प्रभु की भूख पैदा हुई है। अब इतना और देखना होगा कि व्यक्ति प्रभु-प्रभु किस समय पुकारता है? इसके जान लेने पर प्रभु-भजन का, ब्रह्मचर्य का रहस्य खुल जाएगा।

प्रभु की स्वाभाविक याद-

एक अति प्रसिद्ध दोहा है कि '**दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय। जो सुख में सुमिरन करें तो दुःख काहे को हाये।**' हर कोई व्यक्ति दुःख में प्रभु-स्मरण करता है। यदि सुख में स्मरण करे तो दुःख पास ही न फटके। परन्तु बात तो असल यह है कि सहज स्मरण दुःख के बिना होता भी नहीं। गीता में श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं कि हे अर्जुन! वेद में प्रभु कहते हैं कि मुझे चार प्रकार के व्यक्ति ही याद करते हैं-

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन!
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥[१]

---

१. गीता ७।१६

इन चारों में आर्त का सर्वोपरि स्थान है। आर्त का अर्थ दुःखी, पीड़ित व्यक्ति है। प्रभु-भजन का नाम आर्ती भी इसलिए पड़ गया है कि वह आर्त व्यक्ति की पुकार है। अतः स्पष्ट हो गया कि ब्रह्म की भूख दुःख में पैदा होती है। अतः जो प्रभु की भूख पैदा करना चाहते हैं वे दुःखी हो जाएं और जो दुःखी होना चाहें वे दूसरों के दुःख अपने सिर ले लें।

दुःख ले लें-

सम्भवतः पाठक सोचेंगे कि यह क्या ! दुःख लिया जाय, यह तो बड़ी आश्चर्यजनक बात है ! क्योंकि प्रभु-भक्ति तो इसलिए की जाती है कि दुःखों से छुटकारा मिले, परन्तु यहां प्रभु-भक्ति के लिए दुःख लेना आवश्यक है ! यह तो ठीक ही है कि प्रभु-भक्ति से दुःख दूर होते हैं, परन्तु प्रभु-भक्ति भी तो दुःख के बिना नहीं होती ! और वह दुःख तो लेना ही होगा जो अपना न हो, दूसरों का हो। इसीलिए कहा कि दूसरों के दुःख अपने सिर ले लो। प्रभु के दरबार में यदि आर्त होकर जाओ तो अपने दुःखों से दुःखी होकर नहीं, दूसरों के दुःख से दुःखी होकर जाओ।

आर्य-अनार्य की पहचान-

जो व्यक्ति अपने दुःखों से पीड़ित है वह अनार्य है, और जो व्यक्ति दूसरों के दुःख में दुःखी है वह सच्चा आर्य है। जो व्यक्ति सदैव अपने दुःख का रोना रोता रहता है वह अनार्य है, और जिस व्यक्ति के पास अपने कोई भी दुःख नहीं होते वे आर्य हैं। इसलिए प्रभु-भजन की सच्ची भूख पैदा करने के लिए जहां दुःखी होना आवश्यक है, वहां दुःखी होने के लिए भी पर-दुःख को अपनाना आवश्यक है।

महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। धर्मराज युधिष्ठिर सम्राट्-पद पर आसीन हो चुके थे। श्री कृष्ण पाण्डवों से विदा लेकर

द्वारिका जाने की तैयारी कर रहे थे। जब माता कुन्ती से विदा लेने गए, तो चरणों में प्रणाम करके पूछने लगे-'माता ! आज्ञा कीजिए, मेरे योग्य सेवा बताइये, आप क्या चाहती हैं ?' माता कुन्ती ने कहा कि 'हे पुत्र ! मेरी एक ही कामना है कि मैं सदा विपत्तियों से घिरी रहूं।' श्री कृष्ण को माता कुंन्ती की इस कामना पर आश्चर्य हुआ। उनसे रहा न गया और पूछ ही लिया कि 'क्या विपत्तियों से अब भी मन नहीं भरा ? तुम्हारा जीवन अथ से इति तक विपत्तियों की कहानी है। समझ में नहीं आता कि अब भी आप विपत्ति की कामना कर रही हैं !' माता कुन्ती ने समाधान करते हुए कहा कि 'प्रिय पुत्र ! मैं विपत्तियों की इसलिए कामना करती हूं कि मुझे सदैव तुम्हारी याद बनी रहे, और यदा-कदा तुम्हारे दर्शन होते रहें। क्योंकि जब-जब मैं विपत्ति में घिरी, तब-तब आपकी याद आई और आपके दर्शन हो सके।' कुन्ती के इस उत्तर में शाश्वत सत्य की झांकी मिलती है। यदि अपने बन्धु की याद दुःख में आती है तो प्रभु की याद दुःख में क्यों न आएगी ! इसीलिए यह दोहा अति प्रिय है कि-

'सुख के माथे सिल पड़े, जो हर का नाम भुलाय।
बलिहारी वा दुःख के, जो पल-पल नाम रटाय ॥'

इसलिए हमने लिखा कि व्यक्ति को दुःख लेना अत्यन्त आवश्यक है।

दुःख कहां है ?-

पाठक सोचता होगा कि मान लिया दुःख लेना चाहिए, परन्तु क्या दुःख कोई ऐसी वस्तु है तो हाट-बाज़ार में बिकती हो और जिसे पैसों से खरीदा जा सके ? मैं अपने पाठक को परामर्श दूंगा कि उसे हाट-बाज़ार जाने की आवश्यकता नहीं। वह थोड़ा प्रयत्न करे तो उसे अपने ही

आगे-पीछे, दायें-बायें, दुःख-ही-दुःख नज़र आएगा। गुरु नानकदेव जी के शब्दों में तो **'दुःखिया सब संसार'**।

पाठक ! आ, पड़ोस में चल। देख, तेरे पड़ोस में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिनके तन पर वस्त्र के नाम पर चार अंगुल चौड़ी पट्टी मात्र है। पेट और पीठ एक हो चुके हैं। मुंह में डालने को दाना भी नहीं। ये जिस दुःख से पीड़ित हैं, उसे **अभाव** कहते हैं। देख तेरी दायीं ओर, जिसके यहां खाने-पीने का अन्न, ओढ़ने को वस्त्र थे, कुछ ही दिन पहले एक रात डाकू आये और सब छीनकर ले गये। अब वह दाने-दाने को मोहताज नज़र आता है। क्या कुछ समझा भी कि यह किस दुःख से पीड़ित है ? उस दुःख का नाम **अन्याय** है। और यह देख, तेरे सामने पलंग पर सुन्दर गदेला बिछाए मसनद लगाए लालाजी लेटे हुए हैं, परन्तु उन्हें पलभर का भी चैन नहीं; कभी दाएं करवट लेते हैं तो कभी बाएं। उनका हाथ पेट पर रक्खा हुआ है और पुकार रहे हैं-'हाय मरा ! हाय दर्द !' कुछसमझे ये किस दुःख से दुःखी हैं ? न इनके पास किसी बात का अभाव है, न अन्याय से पीड़ित हैं। इनके दुःख का कारण है **अज्ञान**। अज्ञानवश ये स्वाद में न जाने क्या-कुछ खा गये और दुःख-ही-दुःख पुकार रहे हैं। आयुर्वेद के आचार्य महर्षि चरक ने स्पष्ट लिखा है, **"प्रज्ञाऽपराधतं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम्**[1]**।"**-सब बीमारियों की जड़ अज्ञान ही है। इसलिए विश्व के ये तीन महादुःख-**अभाव, अन्याय** और **अज्ञान** हैं। बस, इनमें से किसी एक को दूर करने का निश्चय करना आर्य का कर्तव्य है और यह तभी सम्भव है जब प्रभु-भक्त इन त्रिविध दुःखों में से किसी एक दुःख को दूर करना वरण कर ले[2] इसके होते ही ब्रह्म का सहज स्मरण

१. चरक संहिता-शारीरस्थानम्-१.१०८
२. निरुक्त २ अ. १ पा. ३ ख.

होने लगेगा व्यक्ति सहज ब्रह्मचारी बन जायगा और ब्रह्मचारी मृत्यु पर सहज विजय प्राप्त कर लेगा, व्यक्ति में ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठित होते ही अधोलिखित गुण स्वतः आ विराजेंगे जिन्हें मौदगल्य पं० बुद्धदेव विद्यालंकार ने एक श्लोक में इस प्रकार आबद्ध किया है—

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायाम् निवसन्ति सदा कुले,
निश्चिन्तता, निर्भयता, लैरोग्यम् रूप माधुरी ॥

ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठित होने पर उस कुल में निश्चिन्तता, निर्भयता, नीरोगिता और रूप में माधुर्य आ जाता है ।

वेदों के अनभ्यास से आचार के वर्जन से आलस्य और अन्न दोष के कारण मृत्यु विप्रों का संहार करती है ।

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥

महाभारत

मृत्योः पदं योपयन्तो यदेत
द्राघीयायुः प्रतरंदधानाः ।
शुद्धापूता भवत यज्ञियांसः ॥

महाभारत ने व्यास भीष्म के मुख से मृत्यु विजय के अनेकों उपाय कहलाये हैं जो अनुशासन पर्व के १०४वें अध्याय में इस प्रकार हैं—

जो मृत्यु को जीतते हैं

१. सदाचार से ही मनुष्य को आयु की प्राप्ति होती है, सदाचार से ही वह सम्पत्ति पाता है तथा सदाचार से ही उसे इहलोक और परलोक में भी कीर्ति की प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥
२. सब प्रकार के शुभ लक्षणों से हीन होने पर भी जो मनुष्य सदाचारी, श्रद्धालु और दोषदृष्टि से रहित होता है, वह सौ वर्षों तक जीवित रहता है ॥ १३ ॥
३. जो क्रोधहीन, सत्यवादी, किसी भी प्राणी की हिंसा न करनेवाला, अदोषदर्शी और कपटशून्य है, वह सौ वर्षों तक जीवित रहता है ।
४. ऋषियों ने प्रतिदिन संध्योपासन करने से ही दीर्घ आयु प्राप्त की थी ।
५. खड़ा होकर पेशाब न करे । राख में और गोशाला में भी मूत्र त्याग न करे, भीगे पैर भोजन तो करे, पन्तु शयन न करे ॥ ६१ ॥
६. भीगे पैर भोजन करने वाला मनुष्य सौ वर्षों तक जीवन धारण करता है । भोजन करके हाथ-मुंह धोये बिना मनुष्य उच्छिष्ट (अपवित्र) रहता है ।

---

१. आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥ ६ ॥
२. सर्वलक्षणहीनोऽपि समुदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयुश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १३ ॥
३. अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः ।
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १४ ॥
४. ऋषयो नित्यसंध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन् ॥ १८ ॥
५. मूत्रं नोत्तिष्ठता कार्यं न भस्मानि न गोव्रजे ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ॥ ६१ ॥
६. आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो वर्षाणां जीवते शतम् ।

जिन्हें मृत्यु जीतती है

१. दुराचारी पुरुष, जिससे समस्त प्राणी डरते और तिरस्कृत होते हैं, इस संसार में बड़ी आयु नहीं पाता ॥ ७ ॥

२. जो नास्तिक, क्रियाहीन, गुरु और शास्त्र की आज्ञा का उल्लङ्घन करने वाले, धर्म को न जानने वाले और दुराचारी हैं; उन मनुष्यों की आयु क्षीण हो जाती है ॥ ११ ॥

३. जो मनुष्य शीलहीन, सदा धर्म की मर्यादा भङ्ग करनेवाले तथा दूसरे वर्ण की स्त्रियों के साथ सम्पर्क रखने वाले हैं; वे इस लोक में अल्पायु होते हैं और मरने के बाद नरक में पड़ते हैं ॥ १२ ॥

४. जो ढेले फोड़ता, तिनके तोड़ता, नख चबाता तथा सदा ही उच्छिष्ट (अशुद्ध) एवं चञ्चल रहता है, ऐसे कुलक्षणयुक्त मनुष्य को दीर्घायु नहीं प्राप्त होती ॥ १५ ॥

५. संसार में परस्त्री समागम के समान पुरुष की आयु को नष्ट करने वाला दूसरा कोई कार्य नहीं है ॥ २१ ॥

६. 'जो मनुष्य जूठे मुँह उठकर दौड़ता और स्वाध्याय करता है, मैं उसकी आयु नष्ट कर देता हूं और उसकी संतानों को भी उससे छीन लेता हूं। जो निज मोहवश अनध्याय के समय भी अध्ययन करता है।

---

१. दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्।
त्रसन्ति यस्माद् भूतानि तथा परिभवन्ति च ॥ ७ ॥

२. ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्राभिलङ्घिनः।
अधर्मज्ञा दुराचारस्ते भवन्ति गतायुषः ॥ ११ ॥

३. विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं संकीर्णमैथुनाः।
अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः ॥ १२ ॥

४. लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।
नित्योच्छिष्टः संकुसुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥ १५ ॥

५. न हीदृषमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ २१ ॥

६. उच्छिष्टो यः प्राद्रवति स्वाध्यायं चाधिगच्छति।
यश्चानध्यायकालेऽपि मोहादभ्यस्यति द्विजः ॥ ७३ ॥

उद्धरण आद्यांश वर्णानुक्रमणिका

ग्रन्थान्तर्गत शब्द-सूची

मृत्युञ्जय सर्वस्व

'मृत्युञ्जय सर्वस्व' जिस मन्त्र का यह व्याख्यान है उसे 'महामृत्युञ्जय' कहते हैं। सर्वस्व शब्द के जोड़ने का एकमात्र यह प्रयोजन है कि जिसके साथ सर्वस्व शब्द जुड़े, उससे सम्बन्धित पूरी जानकारी दे दी जाए, उसकी पूर्ण विवेचना हो, कुछ छूट न जाए।

पाठक की झोली में लेखक ने (फल–सर्वस्व) खरबूज़ा डाल दिया है। इसे अपनी प्रज्ञा–कसौटी पर कसना। इसकी सुगन्ध, इसका माधुर्य, इसका रस, इसका रंग, इसका रूप, सबकी जांच करना। खरा उतरने पर इसे कसौटी बना लेना और अपने जीवन–फल को परखना। उसकी–सी गन्ध, उसका–सा माधुर्य, उसका–सा रस, उसका–सा रूप–रंग अपना लेना।

हमें विश्वास है कि पाठक इस उपहार को स्वीकार कर अपने को स–फल समझेंगे।

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द